वैचारिकी

भारतीय विद्या मन्दिर की द्वैमासिक शोध पत्रिका

अध्यक्ष-प्रधान सम्पादक

डॉ. बिट्ठलदास मूंधड़ा

सम्पादक

डॉ. बाबूलाल शर्मा

प्रबंध सम्पादक

शंकरलाल सोमानी

कार्यालय

भारतीय विद्या मंदिर

12/1, नेली सेनगुप्ता सरणी

कोलकाता-700 087

दूरभाष : 033-71001614

मो. : 09830559364

ई-मेल : bvm.vaichariki@gmail.com

Website : www.bharatiyavidyamandir.org

सदस्यता शुल्क

वार्षिक 400/- रुपये

द्वैवार्षिक 800/- रुपये

भुगतान

Payee's Name:

BHARATIYA VIDYA MANDIR

Current A/c No. : 32030320176

Bank : STATE BANK OF INDIA

Branch: New Market

IFSC Code No. : SBIN0004662

ISSN 0975-6531 भाग : 39 अंक : 3

वैचारिकी

धर्म-दर्शन-विज्ञान, साहित्य-लोकसाहित्य, इतिहास-पुरातत्व, कला-लोककला

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से मान्यता प्राप्त

मई - जून, 2023 ईस्वी ✷ बैशाख शुक्ल 11, आषाढ़ शुक्ल 12, वि. सं. 2079-80 ✷ ₹ 70/-

अनुक्रम

- **अध्यक्षीय** 3
- **संपादकीय** 8
- **देवनागरी लिपि एवं भारतीय भाषाएँ**
  डॉ. भरत सिंह 13
- **संस्कृत की विदेशी शब्दावली**
  डॉ. सत्यव्रत वर्मा 20
- **जम्मू-कश्मीर और लद्दाख का हिन्दी साहित्य**
  प्रो. राजकुमार 25
- **रससिद्ध कवि-वैद्य लोलिम्बराज**
  गोपीनाथ पारीक 'गोपेश' 34
- **आचार्य शुक्ल की समीक्षा दृष्टि**
  डॉ. किशोरीलाल व्यास 40
- **आधुनिक संदर्भों की युगीन प्रस्तुति : कनुप्रिया**
  डॉ. कृष्णा आचार्य 48
- **उत्तरकुरु में इतिहास व लोक-संस्कृति**
  डॉ. सुधा ए. एस. 51
- **वैश्विकता और दलित साहित्य**
  डॉ. रमेश कुमार 55
- **हिन्दी साहित्य में स्त्री-विमर्श : लक्ष्य और भटकाव**
  अभिजीत सिंह 60
- **मोहनदास में दलित विमर्श**
  विकास कुमार साव 64
- **कबीरा खड़ा बाजार में : सामाजिक अन्तर्विरोधों का दस्तावेज**
  डॉ. सुनीता सियाल 68
- **उषा प्रियम्वदा की कहानियों में मानवीयता**
  डॉ. जय प्रकाश पाण्डेय 72
- **प्रेमचंद और अमरकांत ('कफन' व 'जिन्दगी और जोंक' के विशेष संदर्भ में)**
  देवस्मिता बल 76
- **छत्तीसगढ़ी साहित्य : इतिहास और प्रवृत्तियाँ**
  श्रीमती माग्रेट कुजूर 80
- **पाठक-मंच** 83
  मूर्धन्य बांग्ला रचनाकारों से मिलने का सौभाग्य (*सिद्धेश*), गुजरात का हिन्दी सन्त-साहित्य (*प्रो. भगवानदास जैन*), भोजपुरी नाटक के पुरोधा : भिखारी ठाकुर (*डॉ. हरिकृष्णप्रसाद गुप्त अग्रहरि*), आचार्य शुक्ल और उनका गद्य लेखन (*सीताराम पाण्डेय*)
- **प्रतिस्वर** 94

■ प्रकाशित सामग्री के उपयोग हेतु लेखक-प्रकाशक की अनुमति आवश्यक।

■ प्रकाशित लेखादि में अभिव्यक्त विचारों से प्रकाशक-सम्पादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

■ समस्त विवादों के लिए न्यायालय क्षेत्र कोलकाता।

अध्यक्षीय

एक विस्मृत तारे को खोजने का प्रयास

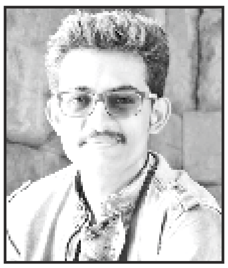

श्री जीवन राव जीएस 23 साल के एक युवा भारतीय हैं जिन्होंने अपना शोधकार्य केवल 20 साल की उम्र में ही शुरू कर दिया था। श्री राव एक लेखक, वक्ता और एक आईटी सलाहकार भी हैं। उनके पास इलेक्ट्रिकल इंजीनियरिंग में बी.ई. की डिग्री है। वे फिलहाल बेंगलुरु में रह रहे हैं। वे प्राचीन भारतीय इतिहास के विस्मृत या सबसे कम चर्चित पहलुओं पर विस्तार से लिखते हैं। श्री राव का लक्ष्य लोगों को सरल भाषा और मजबूत तार्किकता से आसानी से समझने योग्य तरीके से भारतीय संस्कृति के अनदेखे पहलुओं से अवगत कराने में मदद करना है। "Yuganta : The Advent of Kali Yuga" उनकी पहली पुस्तक है। उन्होंने इंडिक अकादमी द्वारा आयोजित पुराणों पर सम्मेलन में शोधपत्र प्रस्तुत किए हैं, आईटी पुणे में अतिथि वक्ता रहे हैं और ऑनलाइन पोर्टल तथा पत्रिकाओं के लिए विभिन्न विषयों पर कई शोध-लेख लिखे हैं। उनके शोध का दायरा आदि शंकराचार्य का समय, विश्वामित्र तारे की पुनः पहचान, भारतीय विषुवतरेखा या भूमध्यरेखा के साथ शहर वत्स्यपुरा की पहचान, रावण की लंका का पता, कलियुग की शुरुआत जैसे विषयों तक फैला हुआ है। मैं इस युवा शोधकर्ता के अच्छे स्वास्थ्य और उनके भविष्य के प्रयासों के लिए सफलता की कामना करता हूं। विद्वानों के ध्यानार्थ यहां श्री राव के लेख Vishwamitra : The Forgotten Star का हिंदी अनुवाद 'विश्वामित्र : एक विस्मृत तारा' प्रस्तुत है, इस आशा से कि विद्वान शोधक इसी तरह वेद, रामायण, महाभारत, पुराणों में

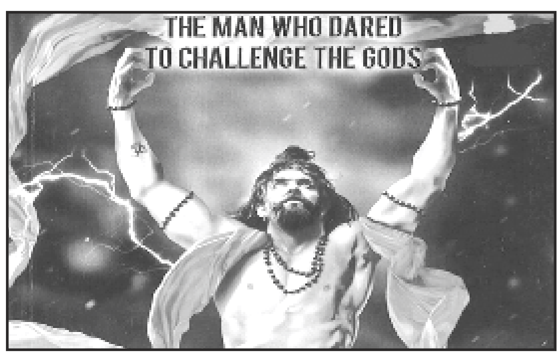

ऋषि विश्वामित्र

विश्वामित्र : एक विस्मृत तारा

उल्लिखित ऋषियों की परंपरा और उनके कार्यों तथा इनमें से कइयों के नामों पर तारों के संबंध में, मेरे जैसे जिज्ञासुओं को विस्तार से समझाने का अनुग्रह करें।

विश्वामित्र : एक विस्मृत तारा

युधिष्ठिर ने कहा : ध्रुवस्यौत्तानपादस्य ब्रह्मर्षीणां तथैव च। मध्यं ज्वलति यो नित्यमुदीचीमाश्रितो दिशम्।। (अनुशासन पर्व 3.15) 'वह (विश्वामित्र) उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव और सप्त ब्रह्मर्षि के बीच एक तारे के रूप में सदैव विद्यमान हैं' । इस कथन का महत्व यह है कि युधिष्ठिर हमें स्पष्ट रूप से विश्वामित्र नामक तारे का स्थान बता रहे हैं। लेकिन दिलचस्प बात यह है कि वसिष्ठ, अगस्त्य आदि तारों की तरह, भारतीय पारंपरिक खगोल विज्ञान ने विश्वामित्र नामक किसी तारे का रिकॉर्ड संरक्षित नहीं किया है। ऐसी चूक का कारण क्या हो सकता है? क्या विश्वामित्र तारे को पुनः पहचानना हमारे लिए संभव है? हम निश्चित रूप से इस खोज का प्रयास कर सकते हैं। युधिष्ठिर के उक्त कथन से हमारी खोज में 3 बिंदु शामिल हो जाते हैं : 1) क्या महाभारत-काल में विश्वामित्र उत्तर दिशा में थे, इसकी पुष्टि की जा सकती है? 2) सप्तऋषि की पहचान। 3) ध्रुव उत्तानपादी की पहचान। यह सर्वविदित है कि विश्वामित्र रामायण के प्रमुख पात्रों में से हैं और उनके बहुत से कार्य महाभारत की तुलना में रामायण में अधिक विस्तार से बताये गए हैं। रामायण कालानुक्रमिक रूप से महाभारत से पहले की रचना है, इसलिए पहले रामायण में इसकी तलाश करना आवश्यक है कि यह ग्रंथ हमें विश्वामित्र की स्थिति के संबंध में क्या संदर्भ प्रदान कर सकता है।

1. रामायण के साक्ष्य : पिछले कई शोधकर्ताओं ने विश्वामित्र को दक्षिणी गोलार्ध में स्थित माना है और उन्हें दक्षिणी तारों में पहचानने की कोशिश की है। दरअसल, रामायण में यह कहा गया है कि अपने कट्टर शत्रु वसिष्ठ से पराजित होने के बाद, विश्वामित्र दक्षिण दिशा में बस गए और ब्रह्मर्षि बनने के लिए कठोर तपस्या की। ततः संतप्तहृदयः स्मरन्निग्रहमात्मनः। विनिःश्वस्य विनिःश्वस्य कृतवैरो महात्मना।। (1-57-1)। सदक्षिणां दिशं गत्वा महिष्या सह राघव। तताप परमं घोरं विश्वामित्रो महातपाः।। (1-57-2)। लेकिन इसे उनका अंतिम स्थान मानने का भ्रम नहीं करना चाहिए! क्योंकि, त्रिशंकु प्रकरण के बाद अपनी तपस्या से प्राप्त शक्तियों के नुकसान के कारण, विश्वामित्र ने तपस्या के माध्यम से शक्तियों को पुनः प्राप्त करने की योजना बनाई और पश्चिमी दिशा की ओर बढ़ने का फैसला किया। पश्चिमायां विशालायां पुष्करेषु महात्मनः। सुखं तपश्चरिष्यामः परं तद्धि तपोवनम्।। (1-61-3)।

विश्वामित्र लंबे समय तक कठोर तपस्या करते हैं जिससे इंद्र परेशान हो जाते हैं। तो, इंद्र विश्वामित्र का ध्यान भटकाने के लिए अपनी अप्सरा मेनका को भेजते हैं। मेनका अपने उद्देश्य में सफल हो जाती है और 10 साल उसके मोहपाश में बंधे रहने के बाद विश्वामित्र को अपनी गलती का एहसास होता है और वह अपना तप जारी रखने के लिए उत्तरी दिशा में चले जाते हैं। विनिःश्वसन् मुनिवरः पश्चात्तापेन दुःखितः।। (1-63-12)। भीतामप्सरसं दृष्ट्वा वेपन्तीं प्रांजलिं स्थिताम्। मेनकां मधुरैर्वाक्यैर्विसृज्य कुशिकात्मजः।। (1-63.13) उत्तरं पर्वतं राम विश्वामित्रो जगाम ह।

उनके लंबे समय तक तपस्या करने के बाद, इंद्र एक बार फिर विश्वामित्र की तपस्या में बाधा डालने की कोशिश करते हैं। इस बार उन्होंने विश्वामित्र का ध्यान भटकाने के लिए अपने दरबार की एक और अप्सरा रंभा को भेजा। लेकिन विश्वामित्र रंभा को शाप देते हैं और फिर इस बात के लिए विलाप करते हैं कि उन्होंने अभी तक अपने क्रोध पर नियंत्रण हासिल नहीं किया है। तब विश्वामित्र ने तब तक अपनी तपस्या जारी रखने का फैसला किया जब तक कि वह अपने क्रोध पर विजय नहीं पा लेते और तब वह पूर्वी दिशा में जाकर अपनी तपस्या जारी

रखने का फैसला करते हैं। अथ हैमवतीं राम दिशं त्यक्त्वा महामुनिः। पूर्वां दिशमनुप्राप्य तपस्तेपे सुदारुणम्।। (1-65-1)। पूर्वी दिशा में अपने प्रवास के दौरान विश्वामित्र ने ब्रह्मर्षि पद प्राप्त किया और फिर वह पूरी पृथ्वी पर तपस्या करते हुए विचरण करते हैं। फिर, रामायण में कहा गया है कि राम और सीता के विवाह के बाद, विश्वामित्र उत्तरी पहाड़ों की ओर प्रस्थान करते हैं। अथ रात्र्यां व्यतीतायां विश्वामित्रो महामुनिः। आपृच्छ्य तौ च राजानौ जगामोत्तरपर्वतम्।। (1-74-1)। इन रामायण के सन्दर्भों से पता चलता है कि विश्वामित्र दक्षिण से क्रमशः पश्चिम, उत्तर व पूर्व की ओर बढ़ते हुए अंततः उत्तरी दिशा में स्थित हो जाते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि रामायण के साक्ष्य, महाभारत में युधिष्ठिर के विश्वामित्र के उत्तरी दिशा में निवास करने के कथन की पुष्टि करते हैं!

2) सप्तऋषि : सात प्रमुख तारों का एक समूह है जिसे पारंपरिक रूप से उरसा मेजर तारामंडल (Ursa Major Constellation) कहा जाता है।पौराणिक ग्रंथों में ऋषियों की अलग-अलग सूचियों को सप्तऋषि के रूप में नामित किया गया है। चूंकि यहां सप्तर्षि के संबंध में हमारे साक्ष्य महाभारत से मिलते हैं, अतः हम महाभारत द्वारा दी गई सप्तऋषियों की सूची पर विचार करेंगे। मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः। वसिष्ठश्च महातेजा एते चित्रशिखण्डिनः।। (शांतिपर्व-322.27)। महान ऊर्जा वाले सात प्रसिद्ध ऋषि अर्थात् मरीचि, अत्रि, अंगिरस, पुलस्त्य, पुलहा, क्रतु और वसिष्ठ, जिन्हें चित्र-शिखण्डि नाम से जाना जाता है। पूर्वे भागे भगवान्मरीचिरपरे स्थितो वसिष्ठोऽस्मात्। तस्याङ्गिरास्ततोऽत्रिस्तस्यासन्नः पुलस्त्यश्च।।5।। पुलहः क्रतुरिति भगवानासन्ना अनुक्रमेण पूर्वाद्यात्। तत्र वसिष्ठं मुनिवरमुपाश्रितारुन्धती साध्वी।।6।। (13.5-6)। इस तारा-समूह के सबसे पूर्वी हिस्से में भगवान मरीचि हैं, उनके बगल में वसिष्ठ हैं; उसके बाद अंगिरस और अगले दो अत्रि और पुलस्त्य हैं। इस क्रम में अगले ऋषि पुलह और क्रतु हैं। साध्वी अरुंधति अपने पति ऋषि वसिष्ठ के साथ घनिष्टता से जुड़ी रहती हैं।

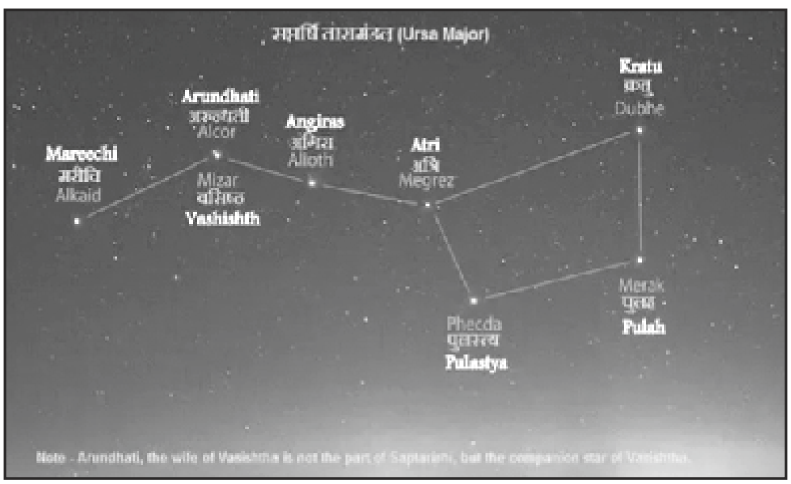

महाभारत और बृहत्संहिता के अनुसार सप्तर्षि

3) ध्रुव उत्तानपादी : संस्कृत में ध्रुव शब्द का अर्थ ध्रुव (pole) और ध्रुवतारा दोनों हो सकता है। हालांकि, युधिष्ठिर द्वारा कहे ध्रुव उत्तानपादी (अर्थात राजा उत्तानपाद का पुत्र ध्रुव) के संदर्भ को देखते हुए, यह काफी हद तक निश्चित है कि यहां जिस ध्रुव की बात हो रही है वह एक ध्रुव (pole) नहीं है बल्कि हम एक तारे ध्रुव की बात कर रहे हैं।

उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव की कहानी इस प्रकार है- उत्तानपाद की दो पत्नियां थीं, सुरुचि और सुनीति, लेकिन उत्तानपाद को सुनीति नापसंद थी। सुरुचि के उत्तम नामक पुत्र हुआ और सुनीति ने ध्रुव को जन्म दिया। एक दिन ध्रुव ने अपने बड़े भाई उत्तम की तरह अपने पिता की गोद में बैठने की कोशिश की, लेकिन राजा और उसकी पसंदीदा पत्नी उत्तम की माता सुरुचि, दोनों ने उसके साथ अपमानजनक व्यवहार किया। बेचारा बच्चा रोते हुए

अपनी मां के पास गया जिसने उसे सांत्वना भरे शब्दों में कहा कि कड़ी मेहनत के बिना भाग्य और अनुग्रह प्राप्त नहीं किया जा सकता। इन शब्दों के साथ ध्रुव ने घर छोड़ दिया और जंगल में चला गया। यद्यपि वह बालक ही था, पर उसने इतनी कठोर तपस्या की कि अंत में विष्णु ने उसे नक्षत्र के पद पर आसीन किया (विष्णु पुराण : सर्ग 1, अध्याय 11)। रात्रि के आकाश में ध्रुव की पहचान कई पुराणों में दी गई है, उदाहरण के लिए ब्रह्माण्ड पुराण (22.6) के अनुसार वह तारा जो प्रकाश को चारों ओर फैलाता है और शिशुमार (डॉल्फ़िन या गंगा के पोरपोइज़ जैसे तारों के एक समूह को शिशुमार कहा जाता है) की पूंछ पर स्थापित है, उत्तानपाद का पुत्र ध्रुव है। वह मानो, मुख्य धुरी है जिससे सभी तारे और ग्रह जुड़े हुए हैं। ब्रह्माण्ड पुराण (शिशुमार का एक समान वर्णन विष्णु पुराण, भागवत पुराण आदि में भी प्रस्तुत किया गया है) में शिशुमार का भी विस्तृत वर्णन दिया गया है, जो हमें रात के आकाश में शिशुमार और इस प्रकार ध्रुव की पहचान करने में मदद करता है।

ब्रह्माण्ड पुराण (23.103-106) में वर्णित उत्तानपाद को इसके ऊपरी जबड़े के रूप में जाना जाना चाहिए और यज्ञ को अन्य (अर्थात् निचला जबड़ा) के नाम से जानना चाहिए। धर्म उसके सिर पर आधारित है (अर्थात्, उसके सिर का गठन करता है)। उसके हृदय में नारायण को और अगले पैरों में अश्विन के जोड़े को खोजना चाहिए। वरुण और अर्यमान इसकी पिछली जांघें हैं। इसका लिंग संवत्सर है और मित्र अपान (गुदा) से जुड़ा है तथा अग्नि, महेंद्र, मारीच-काश्यप और ध्रुव पूंछ में हैं। शिशुमार में (अंतिम) चार तारे अस्त नहीं होते। इस प्रकार, शिशुमार को 14 तारों का तारामंडल माना जाता है और ध्रुव इसकी पूंछ का अंतिम तारा है। इस तरह एकमात्र उत्तरी तारामंडल है जो इस वर्णन के मानदंड को पूरा कर सकता है और वह ड्रेको तारामंडल है।

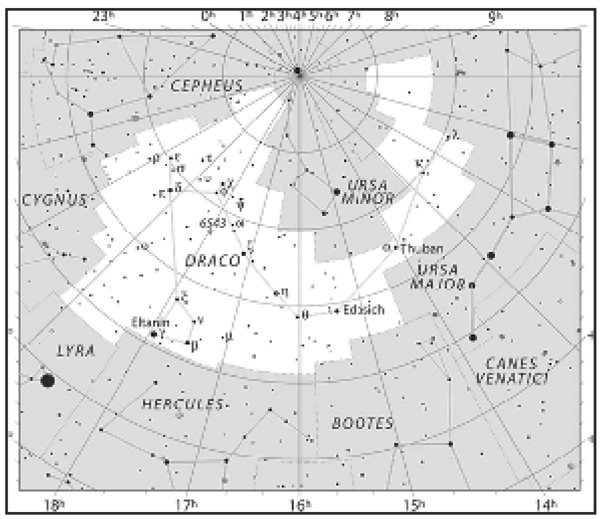

माना जाता है कि छवि के मध्य में तारामंडल ड्रेको शिशुमार है

इस प्रकार इस चित्र में बताया थुबन तारा महाभारत, ब्रह्माण्ड पुराण आदि में वर्णित ध्रुव उत्तानपादी के रूप में सामने आता है। जबकि Thuban तारा चौथी से दूसरी सहस्त्राब्दी ईसा पूर्व तक उत्तरी आकाश में एक ध्रुवीय तारा था, यह ध्यान रखना जरूरी है कि इस अंतराल के दौरान थुबन को ध्रुव नाम देने की आवश्यकता नहीं है। ध्रुव नाम पिछले पूर्ववर्ती चक्र की एक सांस्कृतिक/पारंपरिक स्मृति भी हो सकता है। क्योंकि, ब्रह्माण्ड पुराण में भी ध्रुव उत्तानपादी आकाश में एक स्थिर तारा नहीं है, बल्कि ध्रुव ध्रुव (pole) के चारों ओर एक वृत्ताकार गति करता है। ब्रह्माण्ड पुराण (22.7) में 'यह बताया गया है कि वह (ध्रुव) ही है जो ग्रहों के साथ-साथ चंद्रमा और सूर्य को भी निरंतर घुमाता है। जैसे यह (ध्रुव) एक पहिये की तरह घूमता है, तारे भी इसका अनुसरण करते हैं'।" अब हमारे पास हमारे 3 प्रश्नों का उत्तर है- 1) विश्वामित्र उत्तरी गोलार्ध में स्थित होना चाहिए। 2) सप्तऋषि की पहचान उर्सा मेजर से की जाती है। 3) ध्रुव उत्तानपादी की पहचान थुबन से की गई है। रात के आकाश में कोई भी देख सकता है कि यह तारा K Dra या Kappa Draconis है जो Thuban या हमारे ध्रुव और Dubhe या क्रतु (सप्तऋषि का हिस्सा) के बीच स्थित है।

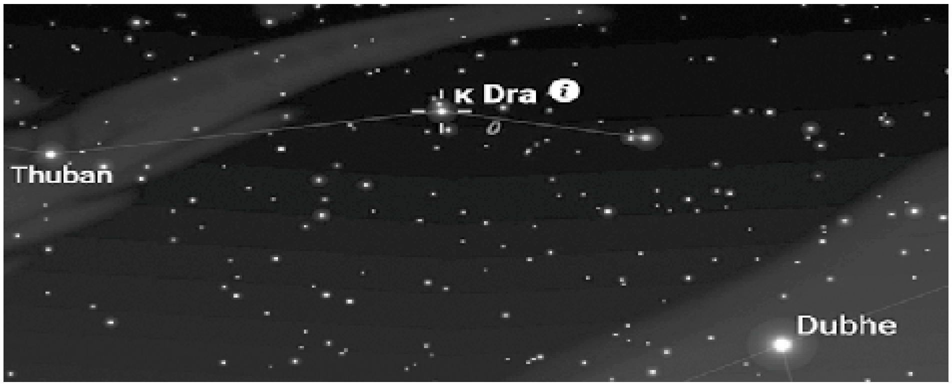

महाभारत का 'नित्यमुदीचीमाश्रितो' वाक्यांश विश्वामित्र की चक्राकार प्रकृति का वर्णन हो सकता है। इसकी पुष्टि करते हुए, Kappa Draconis वास्तव में 7वीं सहस्राब्दी ईसा पूर्व के मध्य का एक सर्कपोलर तारा था। विश्वामित्र की तीसरे परिमाण के तारे से पहचान पर कोई सवाल उठा सकता है। लेकिन ध्यान देने वाली बात यह है कि ध्रुव/Thuban नामक तारा भी 3.65 परिमाण वाला तारा है और Kappa Draconis का अधिकतम परिमाण 3.8 है। इस प्रकार, जब ध्रुव पहचानने योग्य था, तो रात के आकाश में Kappa Draconis को पहचानना मुश्किल नहीं रहा होगा।

हम अपनी यात्रा के अंतिम पड़ाव पर पहुंच गए हैं। महाभारत के साक्ष्यों को ध्यान में रखते हुए और रामायण, ब्रह्माण्ड पुराण और बृहत्संहिता की पुष्टि के आधार पर हम Kappa Draconis को प्रसिद्ध ब्रह्मर्षि विश्वामित्र के रूप में पहचान सकते हैं।

महाभारत शब्द प्रमाण का प्रत्यक्ष

पता नहीं हम विश्वामित्र तारे का पता कैसे भूल गए? हम केवल अनुमान ही लगा सकते हैं। Kappa Draconis अ 3.8 से अ 4 तक परवर्ती परिमाण का एक तारा है। इसका परिमाण अनियमित है या अज्ञात अवधि के साथ बदलता रहता है। तो, स्पष्ट परिमाण (apparent magnitude) में अ4 के स्तर तक की कमी कारण रही होगी (बस हो सकती है) कि प्राचीन खगोलविदों ने विश्वामित्र का ट्रैक खो दिया।

आशा है श्री राव का यह आलेख आपको पसंद आया होगा, कृपया प्रतिक्रिया से अवगत कराएं।

- डॉ. बिट्ठलदास मूंधड़ा

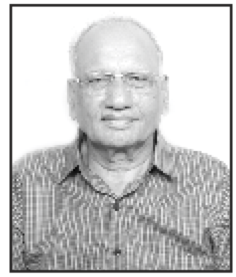

संपादकीय

कुछ वर्षों (यही कोई चालीसेक वर्ष) पहले किसी की रचना किसी पत्रिका में छप जाती और इसी तरह यदि किसी की पुस्तक (कविता, कहानी, लेखों इत्यादि या अन्य विषय को लेकर लिखी गई) प्रकाशित होती थी तो वह एक बड़ी घटना होती थी। फिर उस रचना या पुस्तक पर प्रतिक्रिया होती, समीक्षा होती, ग़ोकि वह रचना और रचनाकार चर्चित हो जाता था। वस्तुतः वह रचना एवं पुस्तक क्रमशः सम्पादक तथा प्रकाशक के द्वारा समीक्षित होकर इसलिए प्रकाशित होती कि वह प्रकाशन के योग्य है। इन दिनों किसी प्रकार की लेखकीय या रचनापरक योग्यता या प्रतिभा की जरूरत नहीं, बस किसी को अचानक यह लग जाना चाहिए की वह लिख सकता है। ऐसे 'रचनाकारों-लेखकों', विशेषकर 'कवियों' तथा पुस्तकों की बाढ़ आयी हुई है। अपनी-अपनी अथवा अपने-अपने गुटों की पत्रिकाएं हैं जिनमें अपने-अपने लोगों का छपना तो निश्चित ही है, छप गयी तो गुट के सदस्य उसे बिना पढ़े भी वाह-वाह कह उठेंगे। पुस्तक जितना मैटर लिख-लिखा लिया तो किसी प्रकाशक की जरूरत नहीं, अपना ही प्रकाशन बनाकर छाप ली अथवा किसी प्रकाशक (जो कि कुछ भी छापने का धंधा करता है) को छपाई का खर्च देकर छपाली (जिससे लगे कि पुस्तक स्वयं ने नहीं प्रकाशक ने छापी है)। ऐसा ही एक माध्यम है आकाशवाणी, जिससे प्रसारित रचना को बहुत लोगों द्वारा सुना जाता था, अब इससे प्रसारित रचना को उसके रचनाकार के अलावा, उसके रिश्तेदारों मित्रों को सुनना पड़ता है क्योंकि उनको रचनाकार द्वारा फोन कर या वाट्सएप भेज आग्रह कर दिया गया है।

ऐसे स्वयंभू लेखक अपनी एप्रोच लगाकर पुस्तक के फ्लैप पर ही नहीं, प्रारंभिक पृष्ठों पर किन्हीं 'वैलनोन लोगों' से अभिमत (एक से अधिक), भूमिका, प्रस्तावना जैसा कुछ लिखवाकर छाप देता है। इस तरह प्रकाशित पुस्तकों के विक्रय की भी कोई समस्या नहीं है (वैसे भी हिंदी-पुस्तकें सामान्यतः खरीदी नहीं जाती और न उतनी पढ़ी ही जाती हैं, सामान्यतः नौकरी लग जाने के बाद पढ़ने से सरोकार नहीं रह जाता यहां तक की अधिकांश अध्यापकों-प्राध्यापकों को भी नहीं), 'लेखक' मौका मिलते ही गहरी मुस्कान के साथ उसे किसी पर भी थोप देता है। अब उस पुस्तक को किसी कारण कोई पाठक मिल गया और मान लो उसने पढ़ लिया, परंतु वह पुस्तक के संबंध में अपना कोई मत बनाने के लिए स्वतंत्र नहीं है, पुस्तक पर छपे अभिमतों की 'दे-मार' 'दे-मार' के बीच वह बेचारा कैसे अपना

अभिमत बनाये? एक और प्रवृत्ति खूब चल रही है, हिंदी पुस्तकों का अंग्रेजी अनुवाद करने की (किसी भारतीय भाषा में अनुवाद करना या कराना जरूरी नहीं समझा जाता)। कुछ पुस्तकों का अनुवाद तो उनके महत्व और उनकी मांग के कारण होता है परंतु जो लेखक अपने खर्चे पर अपनी हिंदी पुस्तक छपवाते हैं उनमें से भी कुछ अपने खर्चे पर उसका अंग्रेजी अनुवाद छपाकर विश्व प्रसिद्ध होने के स्वप्न के साथ मौका लगते ही खीसें निपोरकर किसी के मत्थे मढकर धन्य-धन्य महसूस करते हैं, ग्रहीता भी कृत्रिम कृतज्ञभाव से ले लेता है, फिर उस पुस्तक का क्या होता है इसकी कल्पना की जा सकती है। इस तरह प्रति वर्ष टनों कागज अंतिम गति को प्राप्त हो जाता है।

XXX XXX XXX

एक महाविद्यालय के सेमिनार में सत्राध्यक्ष था, मुख्य अतिथि प्रसिद्ध कहानीकार श्री गंगाप्रसाद विमल थे। पत्रवाचनों और हमारे वक्तव्यों के बाद संयोजक ने प्रश्नकाल की घोषणा की जिसमें हमें प्रश्नों के उत्तर देने के लिए कहा गया। अचानक श्रोताओं में बैठी दो प्राध्यापिकाएं उठीं और प्रश्नों की झड़ी लगा दी, प्रश्नों की इस अतिवृष्टि में हमारे द्वारा कैसे-जैसे दिए गये उत्तरों को सुनना जरूरी नहीं समझा गया अथवा वे बह गये। बाद में संयोजक ने हमको समझाया कि ऐसा माहौल बनाकर सत्र की सफलता के लिए किया गया।

XXX XXX XXX

गत कई वर्षों से कविता लिखना बहुत आसान हो गया है। छंद का अनुशासन क्या खत्म हुआ अब तो 'छोटी-बड़ी पंक्तियां लिख देना काव्य है, कोई कवि बन जाये सहज संभाव्य है।' हिंदी काव्य परंपरा में भारतेन्दु युग, साथ ही महावीर प्रसाद द्विवेदी युग के समय की कविता और इस क्रम में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त जैसे कवियों की कविताओं को सपाट कथन कहकर दरकिनार कर कलावादी कविता को ले उड़े। छायावादी कविता ने हिंदी के आधुनिक युग को काव्य की दृष्टि से विशिष्ट गरिमा प्रदान की। हालांकि आचार्य शुक्ल इसे अच्छी नज़र से नहीं देख रहे थे। इसीलिए वे इसे इंग्लैंड की रोमेंटिक कविताओं की 'छाया' मात्र बताते थे अथवा इन कविताओं को कविता की छाया मात्र मानते थे और इसी से इसका नाम छायावाद पड़ गया। आचार्यवर द्वारा उपेक्षा से दिया गया यह नाम भी इन कविताओं के लिए सटीक हो गया। क्योंकि छाया शब्द अपने-आप में सुखद प्रेममय सौंदर्य का एहसास कराता है। छायावाद के बाद प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और न जाने कौन-कौन से वाद और कवियों की श्मशानी पीढ़ी जैसी पीढ़ियों का दौर चला, पता नहीं अब किस वाद या पीढ़ी का दौर चल रहा है, हां यह अवश्य है कि कविता से विरक्ति का दौर चल रहा है। कोई सुनने वाला नहीं है कविता।

पचासेक वर्ष पूर्व का वह रोमांचित कर देनेवाला मंजर याद आता है जब कवि सम्मेलनों की धूम थी। रात-रात सर्वश्री भर रामधारी सिंह दिनकर, हरिवंश राय बच्चन, बाबा नागार्जुन, देवराज दिनेश, काका हाथरसी, निर्भय हाथरसी, जैमिनी हरियाणवी, शैल चतुर्वेदी, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, संतोषानंद, गोपालदास नीरज, बालकवि वैरागी, व्यंकटेश पागल, हरिकृष्ण कौल, मेघराज मुकुल, ताराप्रकाश जोशी, कल्याणसिंह राजावत आदि-आदि को सुनते रहते थे। कवि सम्मेलनों का इतना क्रेज हो गया था कि कुछ लोग तो कवि सम्मेलन कराने से ही जीविकोपार्जन करने लगे थे, जैसे श्री रामरिख मनहर (मुम्बई)। विभिन्न संस्थाएं बड़े-बड़े कवि सम्मेलन करवाती थी, स्वतंत्रता दिवस पर राज्य सरकारें कवि सम्मेलन का आयोजन करती थी। अब कवि सम्मेलन होना बंद हो गये हैं। कवि सम्मेलन कराना जोखिम भरा हो गया है क्योंकि श्रोता जुटाने में पसीना आ जाता है। ले-देकर काव्य गोष्ठियां होती हैं लेकिन उनमें 'कविगण' ही एक-दूसरे को सुनते-सुनाते हैं। एम.ए. में

पढ़ते समय विश्वविद्यालय में अज्ञेय सर्वश्री कमलेश्वर, यशपाल, निर्मल वर्मा, नामवर सिंह, कृष्णबलदेव वैद इत्यादि के व्याख्यान सुनना एक प्रेरक अनुभूति से भर देता था, जिनमें केवल हिंदी विभाग के ही प्राध्यापक-विद्यार्थी ही नहीं होते थे अपितु लॉ कॉलेज, मेडिकल कॉलेज, कॉमर्स कॉलेज के प्राध्यापक-विद्यार्थी भी व्याख्यान सुनने आते थे। सच, साहित्य और साहित्यकारों के प्रति उस समय जो लगाव व सम्मान था उसकी याद रोमांचित कर देती है। अब तो व्याख्यान उद्धरणों, कहने की कलाबाजी या विषयेतर प्रसंगों से भरे रहते हैं। विद्वान लेखक लिख-बोल रहे हैं हिंदी साहित्य के बारे में और उद्धरण दे रहे हैं अंग्रेजी के। कुछ वर्ष पहले हिंदी-उर्दू कथा साहित्य पर आयोजित एक सेमिनार में भारी भरकम विद्वान-अध्यक्ष के अध्यक्षीय में अंग्रेजी कथाकारों के उद्धरणों की भरमार थी जबकि वे हिंदी-उर्दू कहानी के बारे में बोल रहे थे।

अब स्थिति यह है कि 'आधुनिक हिंदी कविता में दुरूहता' विषय पर शोध कार्य के लिए तिरुपति विश्वविद्यालय ने डॉ. एस. वसंता को पीएच.डी. की उपाधि प्रदान की है। छंदबद्ध कविता साहित्य में तथाकथित विशिष्ट आलोचना मापदण्डों के आधार पर काव्य से बाहर कर दी गई है। अब श्रेष्ठ कविता वह जो किसी के समझ न आये, कुछ लोगों को जो कि समालोचक भी होते हैं, को समझ में आती है पर वे दूसरे को नहीं समझा पाते। रीतिकालीन कवि केशव को 'कठिन काव्य का प्रेत' कहा गया, परंतु कठिनाई से ही सही उनका काव्य समझ में तो आ जाता है। गत दिनों एक बहुत छप चुके कवि के एकल कविता पाठ में जाना हुआ, बताया गया था कि जबरदस्त कवि हैं। यह कविता पाठ लगभग डेढ़ घंटे तक चला। आयोजकों से विशेष संबंध होने के कारण सब श्रोता दम साधे बैठे रहे। आखिरकार पाठ थमा। अब कार्यक्रम की अध्यक्षता कर रहे वरिष्ठ विद्वान को बोलना था, माइक पर आ गये परंतु बहुत देर तक वे नहीं समझ पाये कि क्या बोलें, आखिर बोले तो यही कि इन कविताओं को समझने की कोशिश कर रहा हूं, समझ जाऊंगा तब बाद में डाक से अपना वक्तव्य भेज दूंगा। संस्थाध्यक्ष ने श्रोताओं के प्रति विशेष धन्यवाद ज्ञापित किया कि वे अपना धैर्य बनाये रहे। वस्तुतः, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल काव्यालोचन के संदर्भ में जिस साधारणीकरण अथवा सामान्यीकरण की चर्चा करते हैं उसका अभाव वर्तमान कविता में हो गया है। जब तक कवि अपने भावों या अनुभूतियों को इस तरह और इस रूप में अभिव्यक्त नहीं करता कि उसकी अनुभूति सर्वजन के हृदय में समान रूप से हो तब तक साधारणीकरण संभव नहीं है। इसमें यह भी आवश्यक है कि उसकी भाषा भी संप्रेषणीयता के गुण से संपन्न हो। वर्तमान युग में व्यक्तिवाद का जोर है और सामाजिकता गौण होती जा रही है, समाजवाद है परंतु उसे राजनीति ने हड़प लिया है, वर्तमान हिंदी कविता शास्त्रीय अनुशासन से स्वच्छंद होकर इसी वैयक्तिकता से आक्रांत होकर दुरूह हो उठी है।

XXX XXX XXX

हिंदी की पुस्तकें पढ़ने का चस्का मुझे देवकीनंदन खत्री, गोपाल गहमरी, इब्ने सफी बी.ए., ओमप्रकाश शर्मा, प्यारेलाल आवारा, गुलशन नंदा इत्यादि के उपन्यासों से लगा और बढ़ा, जिन्हें घासलेटी साहित्य तथा ऐसे ही कुछ और हेय सम्बोधन देकर खारिज कर दिया गया। गत दिनों 'क़श्फ' पत्रिका ने कथित घासलेटी साहित्य पर स्मरणीय विशेषांक प्रकाशित किया था। यह भी याद नहीं रखा जा रहा है कि उक्त लेखकों ने हिंदी पाठकों की बड़ी फौज खड़ी की थी जब हिंदी के पाठक नगण्य थे और अवमानना के अर्थ में 'हिंदी होना' मुहावरा प्रचलित हुआ था। आचार्य चतुरसेन के उपन्यास पढ़ने लगा जिनकी भी हिंदी साहित्य में उतनी चर्चा नहीं है। अंततः प्रेमचंद को पढ़ने लगा तो साहित्य की मुख्यधारा में प्रवेश हुआ। फिर धर्मयुग, सारिका,साप्ताहिक हिन्दुस्तान, नवनीत, कादम्बिनी, कहानी, नई कहानी, वातायन, कविता इत्यादि पत्रिकाएं पढ़ने का शौक लगा जो कि अपने आप में एक अनुभव का आरंभ था। ऐसी हिंदी पत्रिकाओं का उस समय कितना क्रेज था, प्रतीक्षा रहती थी कि

नया अंक कब आयेगा। अर्सा हुआ ये पत्रिकाएं (नवनीत के अलावा) बंद हो चुकी हैं।

XXX XXX XXX

एक संस्था के कर्ता-धर्ता ने सेमिनार के लिए कोई विषय बताने के लिए कहा। मैंने उनको बताया - 'हिंदी सिनेमा और उसके सामाजिक साहित्यिक सरोकार'। उन्होंने संकोच से कहा कि संस्था में सिनेमा या फिल्म की बात करने पर ही प्रतिबंध है, कोई साहित्यिक विषय बताइये। वैसे उन्होंने ठीक ही कहा किसी समय तो ध्यान रखा जाता था कि बच्चे सिनेमा नहीं देख लें। बचपन में स्वयं मेरी सिनेमा देख लेने के कारण पिटाई हो गई थी। लेकिन अब क्या सिनेमा जैसे सशक्त माध्यम की अवहेलना की जा सकती है? साहित्य का मूल उद्देश्य भी मनोरंजन है और सिनेमा का भी। मुद्रित साहित्य का प्रभाव-क्षेत्र बहुत सीमित है जबकि सिनेमा का बहुत-बहुत व्यापक।

संस्कृत वाङ्मय में दो विभाग हैं - श्रुतकाव्य और दृश्यकाव्य। कविता कहानी आदि श्रुतकाव्य हैं अर्थात इनको सुना-सुनाया (अब लिखा-पढ़ा) जाता है, दृश्यकाव्य देखा-दिखाया जाता है। नाटक दृश्यकाव्य है जिसमें किसी कथा या प्रसंग को रंगमंच पर अभिनीत कर दर्शकों को दिखाया जाता है। तो सिनेमा दृश्यकाव्य क्यों नहीं? इसमें भी किसी कथा या प्रसंग को नाटक की तरह स्टूडियो में या साइट पर अभिनीत किया जाता है और कैमरे से फिल्मांकन कर प्रोजेक्टर से पर्देरूपी रंगमंच पर दर्शकों के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है, तो इसे नाटक की तरह साहित्य में स्थान क्यों नहीं? किसी रचनाकार की रचना पर सिनेमा बन जाता है तो इसका उसके परिचय में विशेष उल्लेख किया जाता है। सिनेमा में प्रस्तुत की जाने वाली कथा और उसके संदर्भ में जो गीत-संगीत आदि होते हैं उनके मुकाबले कागज-कलम से लिखा गया बहुत-सा साहित्य तो पढ़ने लायक भी नहीं होता। बंबई विश्वविद्यालय सिनेमा पर शोधकार्य करनेवाले को पीएच.डी. की उपाधि प्रदान करता है। अब तो विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने हिंदी विभाग में हिंदी साहित्य और हिंदी सिनेमा विषय को पाठ्यक्रम में सम्मिलित कर लिया है।

XXX XXX XXX

मध्यकालीन हिंदी कवियों को निर्गुण काव्यधारा और सगुण काव्यधारा में विभाजित किया जाता है और निर्गुण से तात्पर्य बताया जाता है कि निर्गुण वह जो निराकार है और सगुण वह जो साकार है। परंतु निर्गुण का मूल तात्पर्य तो है, वह जिसमें गुण नहीं और सगुण वह जिसमें गुण है। मान लेते हैं कि परमात्मा निराकार है पर यदि वह निर्गुण है अर्थात गुणहीन है तो सृष्टि की रचना कैसे कर सकता है, सृष्टि तो गुणों से होगी। अतः प्रस्ताव है कि निर्गुण काव्यधारा को निराकार काव्यधारा और सगुण काव्यधारा को साकार काव्यधारा कहा जाना चाहिए। निराकार और साकार ब्रह्म, दोनों ही सगुण तो हैं ही। कबीर, रैदास आदि का आराध्य निराकार ब्रह्म है जो निर्गुण नहीं है, जो उनकी रचनाओं से स्पष्ट रूप से प्रतिपादित है। इसी तरह सूर, तुलसी, मीरां का आराध्य साकार है अर्थात जो साकार अवतरित हुआ मनुष्य रूप में।

XXX XXX XXX

कुछ समय पूर्व उत्तर प्रदेश के एक प्रतिष्ठित विद्वान का मीरांबाई पर व्याख्यान सुनने का योग हुआ। उन्होंने मीरांबाई की कुछ पंक्तियों का विचित्र अर्थ बता दिया। व्याख्यान के बाद मैंने उनका ध्यान इस तरफ आर्कर्षित किया कि शब्द केवल ध्वनि और लिपि में उसका आकार मात्र ही नहीं होते, अपितु वे सामाजिक परिवेश, संस्कृति एवं इतिहास के विशिष्ट अभिप्राय भी होते हैं। अतः यदि कोई उन अभिप्रायों से परिचित नहीं है तो रचनाकार द्वारा अभिव्यक्त शब्दों का सटीक अर्थ नहीं हो पाता और आपने कई जगह ऐसा कर दिया है ! उन्होंने

मीरां की इस पंक्ति - 'जौहरी की गति जौहरी जाने, जे कोई जौहरी होय' के जौहरी शब्द का अर्थ जवाहरात का व्यवसायी-पारखी कर दिया क्योंकि वे राजस्थान के उस इतिहास से परिचित नहीं थे, जिसमें मरण युद्ध करने के लिए जाने वाले वीरों की स्त्रियों द्वारा किये गये जौहर (अग्नि स्नान) के प्रसंग हैं। मीरांबाई ने कृष्ण के प्रति आसक्ति में अपनी गति की तुलना उस स्त्री से की है जो जौहर करने अर्थात अग्निकुण्ड में अर्पित होने वाली है। एक और पंक्ति - 'भाभीसा जिमावो थारा कंवरां नै जिमावो थारा भंवरां नै, म्हे तो म्हारा गिरधर के भोग लगास्यां' के कंवरां शब्द का अर्थ पुत्र तो उन्होंने ठीक कर दिया परंतु भंवरां का अर्थ उन्होंने पति बता दिया ('कुरजां ये म्हारो भंवर मिला दे' के आधार पर), इसमें भी उन्होंने भंवरां के बहुवचन पर ध्यान नहीं दिया, स्पष्ट ही यहां पतियों अर्थ हो गया? । लेकिन मीरां की इस पंक्ति में भंवरां शब्द का सटीक अर्थ वही कर सकता है जिसे राजस्थान के राजपूत समाज की इस परंपरा का पता हो कि इस समाज में उस व्यक्ति को कंवर कहा जाता है जिसका पिता जीवित हो और यदि दादा भी जीवित हो तो उसे भंवर कहा जाता है, अतः इस पंक्ति में कंवरां का अर्थ बेटों और भंवरां का अर्थ पोतों हुआ। इसी तरह पंक्ति - 'मैं तो मेरा पिव सूं मिलणै, खोल चली गाती' का अर्थ उन्होंने किया कि मैं तो मेरे प्रिय से मिलने खुल्लम-खुल्ला चली गाते हुए। जबकि यहां गाती का अर्थ 'गाते हुए' नहीं है। उल्लेखनीय है कि पहले स्त्रियां सीधे पल्ले की साड़ी पहनती थी (अब उल्टे पल्ले की पहनती हैं)। सीधे पल्ले में सिर के ऊपर से आने वाले साड़ी के पल्लू को वक्ष के ऊपर से ले-जाकर कमर में खोंस दिया जाता है। साड़ी का यह भाग 'गाती' (अर्थात गात या शरीर को ढंकने वाली) कहा जाता था जो लज्जा या मर्यादा का प्रतीक थी। अब उक्त पंक्ति का अर्थ हुआ - मैं तो मेरे पिया से मिलने गाती को खोल अर्थात लज्जा का त्याग कर चल पड़ी। यहां मीरां की पंक्ति - 'लोक लाज खोई' स्मरणीय है।

- डॉ. बाबूलाल शर्मा

ईर्ष्या युग

अंग्रेजी की एक लेखिका आइनरेंड ने आज के युग को 'ईर्ष्या युग' नाम दिया है। उसके अनुसार पश्चिमी संस्कृति में एक युग था–

1. विचार शक्ति का युग (दी एज ऑफ रीजन), दूसरा युग आया–
2. प्रज्ञा या प्रकाश युग (दी एज ऑफ एनलाइटमेंट), पर आज का युग है –
3. ईर्ष्या-युग (दी एज ऑफ एन्वी)।

हम चाहें, चाहें नहीं, हमें प्रिय भी न लगें– पर हम जिस युग में सांस ले रहे हैं– चारों और ईर्ष्या-ही-ईर्ष्या की आग सुलगती है। जिसके कारण गली-गली, गांव-गांव ही नहीं– हमारे स्कूल, हमारे कॉलेज, हमारे विश्वविद्यालय तक इसी आंच से झुलस रहे हैं। आज के युग में दुश्मन बनाने का प्रयत्न नहीं करना पड़ता है– आमर्याद बढ़ रहे हैं, विकास कर रहे हैं– चारों ओर शत्रु पैदा हो जाते हैं।

एक युग था– मुदिता युग। कोई बढ़ता तो उसके लिए चतुर्दिक खुशियाँ प्रकट की जाती थीं। मुदिता प्रगति की राहों में फूलों की वर्षा करती है। ईर्ष्या अपने ही रास्ते में कांटे बिखेरती है और दूसरों के प्रगति मार्ग में गड्ढे खोदती है।

मुदिता– प्रकाश है, सर्जना है, ईर्ष्या– ज्वाला है, नाश है।

महर्षि पंतजलि ने चार शब्द हमारे लिए पथ-दीप बनाए हैं।

(अ) किसी पुण्यात्मा के श्रेष्ठ कार्य को सुनकर 'मुदिता' का अनुभव करें, (आ) बराबर वालों के प्रति 'मैत्री भाव' रखें, (इ) दुःखियों के प्रति हृदय में 'करुणा' का भाव रखें, (ई) दुष्टों के प्रति 'उपेक्षा' की वृत्ति अपनावें या यह भाव रखें कि उन्हें सद्बुद्धि मिले।

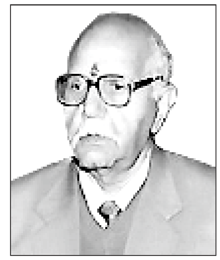

देवनागरी लिपि एवं भारतीय भाषाएँ

डॉ. भरत सिंह

विश्व समुदाय संग भारत उत्तर आधुनिक युग में पश्चिमी सभ्यता, शिक्षा और संस्कृति के साथ विवेकशून्य भाव से प्रगत है। ऐसे संकट के समय में भारत के मौलिक और राष्ट्र प्रेम में विवश बेचारगी की हालत में रह रहे प्रशासनच्युत बौद्धिक वर्ग को देवनागरी लिपि और भारतीय भाषाओं पर विचार करने की बौद्धिक जरूरत है। देवनागरी लिपि और भारतीय भाषाओं पर हमें गर्व होना चाहिए था पर हम अपनी शान रोमन लिपि और अंग्रेजी भाषा के ज्ञान से आंकते हैं। विश्व की प्राचीनतम लिपि 'सैंधव लिपि' है। 'सैंधव लिपि' को अभी तक पूरे तौर पर पढ़ा नहीं गया है। सैंधव लिपि की प्राचीनता चार हजार ई. पूर्व अनुमेय है और असंदिग्ध रूप से अनुसंधान करके बहुत तर्क-वितर्क के बाद यह भी स्थापित हो चुका है कि आर्यों की इसी लिपि से ब्राह्मी लिपि का जन्म हुआ था। इसी के आधुनिक स्वरूप का नाम देवनागरी है। ब्राह्मी से देवनागरी तक का विकास बहुत ही विस्मयकारी, गर्व करने योग्य और मनोरंजक है, क्योंकि देवनगारी तक आते-आते ब्राह्मी में किंचित परिवर्तन हुआ। अतः यह अकारण नहीं है कि प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं, मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं और तृतीय प्राकृत की अपभ्रंश से विकसित हिन्दी और उसके साथ अन्य आधुनिक आर्यभाषाओं की लिपि देवनागरी ही कही जाती है। सैंधवलिपि और ब्राह्मी के बीच का समय अर्थात् सैंधवलिपि और वैदिकी के बीच के समय में कौन सी लिपि थी, कैसी थी, ज्ञात नहीं है? वेद की भाषा ज्ञात भाषा के इतिहास में विश्व में प्राचीनतम है और वेद श्रुत था, पश्चात् लिखित रूप में प्राप्त होने पर वैदिकी या वैदिक भाषा की लिपि ब्राह्मी ही मानी गई।

ब्राह्मी के संबंध में विदेशी विद्वान उसके जन्म और उसकी प्राचीनता को लेकर सशंकित रहे। अपनी मानक लिपि पुस्तक 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' के द्वारा पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने गंभीरता से सतर्क अनुसंधान करके ऐसा उत्तर दिया कि विदेशी विद्वानों ने अपने को संशोधित करते हुए ब्राह्मी की प्राचीनता के साथ भारतीय लिपि के रूप में इसे स्वीकार कर लिया। इस तरह देवननागरी के पूर्व स्वरूप ब्राह्मी की प्राचीनता और उसकी देशीयता असंदिग्ध हो उठी। कागज के अविष्कार के पूर्व भारत की प्राचीन आर्यभाषाओं का लिखित रूप तालपत्रों, भोजपत्रों और शिलालेखों तथा स्तंभलेखों में था। समय के साथ तालपत्रों और भोजपत्रों पर लिखे गए साहित्य लुप्त होते गए। लुप्त साहित्य की चिन्ता में ही

वेद को श्रुत परम्परा में सुरक्षित रखने की वैज्ञानिक पाठविधि परम्परा का अनुसंधान हुआ। अतः समय के साथ जो साहित्य बचा रह गया वह शिलालेखों में ही था। इसलिए देवनागरी के स्वरों और व्यंजनों के विकास क्रम के लिए निर्भर योग्य अध्ययन शिलालेखों से ही गृहीत है। विदेशी विद्वानों ने शिलालेखों के वाचन में अनुसंधानपूर्वक कार्य किए हैं। उनका निष्कर्ष है कि ब्राह्मी संसार की प्राचीनतम लिपि है। यह श्रुत की परम्परा के बाद लिखित रूप में विकास के साथ अपनी विशिष्टता संजोए हुए है। आठवीं नौवीं शताब्दी में जिस समय अपभ्रंश की उत्तर अवस्था से हिन्दी भाषा का विकास होता दिखाया गया है, ब्राह्मी की कुटिल लिपि से देवनागरी ने जन्म लिया। चौथी शताब्दी में गुप्तकाल में यह 'गुप्तलिपि' थी और छठी शताब्दी में कुटिल लिपि। गुप्तलिपि के अक्षरों की खड़ी रेखाएँ नीचे बायीं ओर मुड़ गई और स्वरों की मात्राएं टेढ़ी-मेढ़ी और लंबी हो गई थी। यह किंचित परिवर्तन हुआ, जिसके कारण कुटिल लिपि कही गई।

नगर से ही नागरिक और नागरी दोनों बने हैं। नगर के पूर्व 'देव' शब्द लगाकर 'देवनगर' और 'देवनागरी' बनाए गए हैं। संस्कृत को देवभाषा कहा गया। संस्कृत जिस लिपि में लिखी जाती है उसे ब्राह्मी न कहकर आधुनिक भाषा-भाषियों ने ब्राह्मी के बदले देवनागरी ही कहना उचित समझा। वैसे देवनागरी नाम के लिए विविध तर्कों की कल्पना की गई है। जिस भाषा में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा आधुनिक आर्यभाषाएं हैं उनकी लिपि देवनागरी ही है। देवनागरी लिपि में दार्शनिक ऊँचाई के गंभीर ग्रंथ हैं। ऋषियों के आर्ष चिंतन एवं ज्योतिष है। साथ ही निरुक्त, व्याकरण, प्रतिसाख्य, ललित तथा वैचारिक साहित्य है और भारतीय चिंताधारा और सौन्दर्य की विविधता से भरा हुआ आधुनिक साहित्य है। देवनागरी लिपि में अभाव है विज्ञान, तकनीकी ज्ञान, उत्तर आधुनिकता के युग को अभिव्यक्त करने के साहसपूर्ण संकल्प का, और यह इसलिए है कि हम अपनी लिपि और भाषा के प्रति राष्ट्रीय आग्रह से जुड़े हुए नहीं हैं।

देवनगारी पर तटस्थ भाव से बिना पूर्वाग्रह के विश्व का कोई भी प्रबुद्ध व्यक्ति सिर्फ भाषा-भाव से विचार करे तो निश्चय ही इसके विस्यमकारी परिणाम से विमुग्ध हो उठेगा। यही एक मात्र लिपि है जो भारतीय भाषाओं की समस्त ध्वनियों को विदेशी भाषाओं की ध्वनियों को उनकी समस्त स्वनिमात्मक विशेषताओं को बिना नष्ट किए लिख सकती है। देवनागरी की प्रतियोगी संसार की ज्ञात अन्य लिपियों में कोई नहीं है लेकिन गुलामी का दंश झेल चुका भारत राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्ति के 75 वर्षों के बाद भी आत्मगौरव के साथ खड़ा नहीं हो पा रहा है, निश्चय ही यह गम्भीर चिंता का विषय है। देवनागरी को बौना करके देखने की आदत न केवल विदेशियों की है, प्रत्युत अंग्रेजीपरस्त भारतीयों में भी है। भारत की एकता के लिए राष्ट्रीय चिन्तन में आज तक यह प्रस्ताव ध्यान में कभी नहीं आया कि भारतीय भाषाओं को देवनागरी में लिखा जाए लेकिन यह जरूर आया कि देवनागरी में लिखी जाने वाली भाषाओं को भी रोमन में लिखा जाय। अंग्रेजी राज के समय भारत में देवनागरी को रोमन में मिलाकर अंग्रेजी भाषा के प्रभाव में भारत को धक्का देकर रोमन में डुबाने की कुतर्क पूर्ण राजनीति से भ्रम पैदा करने से अकल्पनीय सांस्कृतिक खतरा उत्पन्न हुआ था, जिसका विकास ही हुआ है, ह्रास नहीं। स्वाधीनता के बाद उस सांस्कृतिक खतरे का चुनौतीपूर्ण सामना स्वयं देवनगारी लिपि की आंतरिक योग्यता ने किया है और करती चल रही है, स्वतंत्र भारत के वोट की राजनीति करने वाले नेता नहीं। देवनागरी लिपि, रोमन लिपि के आक्रमण तथा अंग्रेजी परस्त भारतवासियों के अंग्रेजी समर्थन के बावजूद अब तक ना हारी, न मलिन हुई है। यह देवनागरी के भीतर की प्राण शक्ति के विकास के

अजेय साहस का ऐतिहासिक एवं जीवन्त प्रमाण ही है। प्राचीन भारतीय भाषाओं, मध्यकालीन भारतीय भाषाओं और आधुनिक भारतीय भाषाओं की समस्त ध्वन्यात्मक विशेषताओं के साथ हजारों वर्षों के साहित्य वैविध्य को लिप्यंतरित करना रोमन लिपि की योग्यता के लिए अकल्पनीय है। भारतीय साहित्य की ऋषिकल्प की ऊँचाई, दार्शनिक गम्भीरता, सौन्दर्य का वैविध्य और भाषा में स्वनिमात्मक विशेषताओं के भाषिक सरोकार से जुड़ना, रोमन लिपि के लिए आकाशकुसुम के समान कल्पना की वस्तु है।

'देवनागरी' के ब्राह्मी स्वरूप में, जिसमें वैदिकी अंकित है, चौंसठ वर्ण हैं। प्राकृत में सैंतालिस वर्ण बचे। हिन्दी में चौवन वर्ण हैं। हिन्दी में देवनागरी के वर्णों की संख्या ही विरोधियों के हाथ लग गई कि देवनागरी में एक ही वर्ण को दो तरह से लिखते हैं। ध्वन्यात्मक विशिष्टता की अंकन क्षमता के आगे जब अंग्रेजी परस्त लोग मूक हो गए तो कुछ तो कहने के लिए हाथ आया, जैसे अंधे को बटेर मिल गया हो। कहने लगे - इसमें लिखने की त्वरा का अभाव है, यह अन्तरराष्ट्रीय मेधा की लिपि नहीं है, इसमें वैज्ञानिक सम्भावना का मार्ग रुका हुआ है। लेकिन विडम्बना यह है कि जो देवनागरी के गुण हैं, उन्हीं को दोष कहकर गिनाया गया है। पाषाण काल में भारतीयों को ही अंतरिक्ष-ज्ञान था। आर्यभट्ट ने अंग्रेजी में सौरमण्डल को नहीं समझा था। हड़प्पा काल में दसमलव का व्यवहार होता था। वैदिक युग में गणित बहुत ऊँचाई पर थी। नौवीं सदी में महावीराचार्य नाम के गणितज्ञ ने एल.सी.एम. को अन्वेषित करके सूत्र दिया था। ज्योतिष और खगोल ज्ञान और चिकित्सा विज्ञान में हम अद्वितीय थे। विज्ञान किसी भाषा का मोहताज होता है क्या, जरूरत होती है मेधा की। रूस, चीन, फ्रांस, जर्मनी और जापान रोमन लिपि और अंग्रेजी भाषा के ज्ञान के सहारे नहीं विकसित हुए अपनी भाषाओं में हुए। परंतु भारत है कि अपना विकास अंग्रेजी भाषा के बिना नहीं कर पा रहा है?

देवनागरी और भारतीय भाषाओं के प्रति उदासीन रहने और होते जाने का एक ही ठोस कारण समझ में आता है कि इसमें रोजगार की राह नहीं दिखाई पड़ती। इसे बाजार के भाषा-रूप में विकसित नहीं किया जा रहा है। देवनागरी में जितनी कमियाँ हैं नहीं, उससे अधिक प्रचारित की गयी है। 1935 से 1959 तक समय-समय पर संस्थाओं, समितियों और व्यक्तियों द्वारा सुधार के प्रस्ताव आते रहे। लेकिन सुझावों को अवांछित समझकर ठुकरा दिया गया। चूँकि इसके स्वनिमों में कोई ऐसा परिवर्तन हुआ भी नहीं है कि वर्तमान अवस्था में परम्परा से आगत ध्वनियों की पहचान में कोई फर्क पड़ेगा। वैसे भी एक हजार वर्षों में उन्नीस प्रतिशत शब्द लुप्त होकर नए शब्द आ जाते हैं। इससे ध्वनियों में फर्क पड़ता है, स्वनिमों के अंकन में नहीं। जैसे प्राकृत में विसर्ग लुप्त हो गया था। संस्कृत में रहा, हिन्दी में भी है। लिपि के विकास में वर्णात्मक लिपि तक की पहुँच क्रांतिकारी कदम था। वर्णात्मक लिपि के आगे पड़ती है अक्षरात्मक लिपि। रोमन लिपि का अन्तिम विकास वर्णात्मकता ही है, जबकि देवनागरी लिपि उससे एक चरण आगे अक्षरात्मकता तक है, जिसके आगे मनुष्य की मेधा ने विकास नहीं किया है। अक्षरात्मक लिपि का गुण है ध्वनि विश्लेषण और संयोगात्मकता। देवनगारी लिपि संयुक्त ध्वनियों को लिखने में सर्वाधिक सक्षम और वैज्ञानिक है। अयोगात्मक और योगात्मक दोनों तरह की भाषा सिर्फ अक्षरात्मक लिपि ही लिख सकती है। फलतः देवनगारी संस्कृत जैसी योगात्मक और तमाम भारतीय अयोगात्मक भाषाओं की लिपि है। विवरणजन्य सामान्य परिवेश होने पर भी अर्थभेदकता को सिद्ध करने वाले स्वल्पांतर शब्दयुग्मों का इसमें अभाव है। लेकिन भाषा के सन्दर्भ में दुनिया की किसी लिपि में इससे अधिक

अभाव किसी को नहीं खटकते। मामूली चिह्न परिवर्तन के साथ इसमें अंकित कर लेने की अद्‌भुत क्षमता है। यही कारण है कि अन्तरराष्ट्रीय वर्णतालिका इसमें सुविधापूर्वक प्रस्तुत हो सकती है। जरूरत है पूर्वाग्रह छोड़कर अन्तरराष्ट्रीय भाव से प्रयास-साध्य संकल्प द्वारा इसे अपनाने की।

हिन्दी की वर्तनी में थोड़ी अनेकरूपता है तथापि इसे दूर करने के लिए वर्तनी के रूप को स्थिर करने का सार्थक प्रयास हुआ है। विद्वानों ने अव्यवस्था के इस आंतरिक प्रश्न पर गंभीरता से विचार किया है। एक विद्वान का विचार द्रष्टव्य है- हिन्दी भाषियों के लिए वर्तनी में एकरूपता लाने का प्रश्न केवल एक अव्यवस्था को मिटाने का प्रयास है, लेकिन हिन्दी के साथ-साथ अन्य भाषा-भाषियों को भी ध्यान में रखकर देखने पर यह लिपि और भाषा की सुगमता एवं वैज्ञानिकता को अक्षुण्ण रखने का प्रयत्न हो जाता है। यदि एकरूपता निर्धारण में उच्चारण की अवज्ञा कर दी जाएगी तो अहिन्दी भाषियों के लिए हिन्दी सुगम के बदले दुरूह हो जाएगी। भाषा लेखन अभ्यास-साध्य क्रिया है। अंग्रेजी के हजारों शब्दों के उच्चारण बदल गए पर वर्तनी वही है। हिन्दी में तो उच्चारण और लेखन में समानता है। देवनागरी में शून्य छठी शताब्दी में अंकों में जुड़ा। हिन्दी ने अक्षरों की ही तरह अंकों को भी प्राप्त किया है। निर्भर योग्य अध्ययन अंकों का भी शिलालेखों से ही गृहीत है। देवनागरी अक्षरों और अंकों दोनों की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ लिपि है।

हिन्दी साहित्य व अन्यान्य भारतीय भाषाओं को रोटी और रोजगार से, आजादी के 75 वर्षों के लम्बे स्वशासन में भी नहीं जोड़ा गया। शुरू से ही भाषानीति संबंधी सरकारी उपेक्षा का ही परिणाम यह हुआ कि भारतीय भाषाओं को दबाकर अंग्रेजी खड़ी होती गई। अंग्रेजी शासन के परतंत्र भारत में अंग्रेजी का वर्चस्व समझने की बात है। लेकिन स्वतंत्र भारत में अंग्रेजी को इतना सम्मान चिन्तनीय है। भारतीय भाषाओं के सम्मानजनक स्थान की अपेक्षा लगातार उपेक्षा से भारत अशक्त हो उठा है, क्योंकि देश का जातीय सम्मान, देश की भाषा की रक्षा और उन्नयन से ही बढ़ा करता है। आचार्य शुक्ल ने ठीक ही कहा है, 'किसी जाति को अशक्त करने का सबसे सहज उपाय उसकी भाषा को नष्ट करना है'। भारतीय भाषाओं की उपेक्षा का पहला ठोस रूप है कि मातृ भाषाओं में शिक्षा की उपेक्षा की गई, न केवल अहिन्दी प्रांतों में, अपितु हिन्दी प्रान्तों में भी प्राथमिक कक्षाओं में अंग्रेजी को अनिवार्य कर दिया गया है। वैश्वीकरण और उदारीकरण की सरकारी समझ ने पश्चिम के प्रति नतमस्तक होकर अपने विशाल भारत को परोस दिया है। पश्चिम से माल आ रहे हैं, पूँजी आ रही है, अपसंस्कृति आ रही है, इसलिए भाषा को भी आना ही है। पश्चिम की उसी अपसंस्कृति के साथ आई भाषा से भारतीयों को नौकरियाँ मिल रही हैं। अतः यह अकारण नहीं है कि अच्छे जीवन के लिए अंग्रेजी आवश्यक है। भारतीय समाज के सामने अंग्रेजी को छोड़ना अब मुश्किल कर दिया गया है। गाँधी दर्शन में मातृभाषाओं में शिक्षा का महत्व राष्ट्र के उन्नयन के लिए था। गाँधी का नाम लेकर शासन भोगने वाली सभी पार्टियों में राजनीतिक समझ के इस राष्ट्रीय क्षरण से ही देश की राष्ट्र भाषा के साथ-साथ राष्ट्रीय भाषाओं का यह हाल हुआ है। भारतीय भाषाएँ, अंग्रेजी के बढ़ते वर्चस्व और भारतीय समाज में उसकी मांग के कारण सिर्फ संस्कृति और साहित्य की भाषाएँ बनी रहने को विवश हैं।

भारतीय भाषाओं के केन्द्र में राष्ट्र भाषा हिन्दी का हाल जान लेना चाहिए। भारत में भारोपीय, द्रविड़, चीनी, आस्ट्रिक (मुंडा) परिवार की कुल 1652 भाषाएँ बोली जाती हैं। दस हजार से कम जनसंख्या वाले लोगों की भाषाएँ इनमें 1455 हैं, शेष बची 197 भाषाएँ। इनमें से 14 भाषाओं को पहले प्रधान भाषाओं की श्रेणी में मानकर संविधान की

अष्टम सूची में रखा गया था। अब अष्टम सूची में 22 भाषाएँ हैं। इन्हीं 22 में से एक हिन्दी भी है। हिन्दी का इस देश में सबसे बड़ा क्षेत्र है। देश की कुल जनसंख्या का 45 प्रतिशत हिन्दी बोलने वाला है। देश के बारह प्रान्तों की मुख्य भाषा हिन्दी है। इसी भाषा में स्वाधीनता का युद्ध लड़ा गया था। मुक्ति संग्राम की इस राष्ट्रीय भाषा को राजभाषा का दर्जा भी हासिल है। लेकिन राजभाषा को भारत की सरकार ने अब तक हाथी के दाँत की तरह रखा है। वास्तविक राजभाषा तो अंग्रेजी ही बनी हुई है। बिहार और उत्तर प्रदेश में 'उर्दू' को द्वितीय राजभाषा का दर्जा दिया गया। 'उर्दू' राजभाषा बनकर मुसलमानों के लिए बड़ी अस्मिता की रक्षा-कवच सिद्ध हुई, ऐसा समझा गया। डॉ. नामवर सिंह को लगा कि दूसरी राजभाषा का दर्जा जिस अल्पसंख्यक संस्कृति की रक्षा के लिए प्राप्त किया जा रहा है वह अल्पसंख्यक समुदाय को और भी अल्पसंख्यक बनाने की प्रक्रिया है। आज जो मजहब भाषा के लिए उपयोगी मालूम हो रहा है, वह आगे चलकर कितना घातक हो सकता है, इसका अंदाजा अभी उर्दू जिहादियों को पूरी तरह नहीं है। ऐसा नहीं है कि हिन्दी राजभाषा बनकर बहुत कुछ पा गई है और उर्दू भी पा लेगी। वास्तविकता यह है कि राजभाषा होकर हिन्दी जिस तरह आम जनता से कटते हुए अपनी सर्जनात्मकता खो रही है, उससे उर्दू को भी सबक लेना चाहिए। उर्दू तो पहले से ही एक परजीवी सांस्कृतिक समुदाय की छाया में लम्बे काल तक रहने के कारण अपनी सहज जीवनी शक्ति काफी कुछ खो चुकी है, इस नई होड़ में तो उस पर ही बन आएगी। हिन्दी के प्रति विरोधी भाव उर्दू वालों के साथ-साथ अनेक भारतीय भाषाओं के बोलने वालों को भी है। वे समझते हैं कि हिन्दी को अपेक्षा से अधिक प्राप्त हो रहा है और हो गया है, इसलिए हमें भी उसमें हिस्सा चाहिए। हिन्दी की उपभाषाएं भी हिन्दी जैसा हिस्सा चाहती हैं। भारतीय भाषाओं को हिन्दी के विकास से शिकायत है परंतु अंग्रेजी की छाया के नीचे किसी का दम नहीं घुटता। इसलिए भी अंग्रेजी भाषा बढ़ रही है।

भारतीय भाषाओं की कुव्यवस्था, हिन्दी के साथ सहयोग नहीं करने के कारण भी है और हिन्दी वाले अन्य भारतीय भाषाओं के साथ इसलिए सहयोगी मुद्रा में नहीं खड़े होते, क्योंकि वे समझते हैं कि हम तो राष्ट्रभाषा वाले हैं, हमारा प्रभुत्व है और होना चाहिए। संकीर्णताएँ, जातीयता, प्रांतभेद, धर्मभाव और राष्ट्रीयता की कमी भारतीय भाषाओं को एक दूसरे से मिलने देने में बाधक हैं। जब तक आपसी सहयोग का रिश्ता मजबूत नहीं होगा, अपनी आंतरिक सीमा को लांघकर अंग्रेजी के मुकाबले के लिए खड़ा होना मुश्किल ही नहीं, असंभव भी होगा। यह जानना जरूरी है कि भारत में बोली जाने वाली अनेक भाषा परिवार की भाषाओं में बहुत समानताएँ हैं। भाषाओं के बीच अन्तर्संबंध ध्वन्यात्मक व्यवस्था में है। जैसे- आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं और द्रविड़ परिवार की भाषाओं का वर्णमाला क्रम एक तरह का है। इस तरह की समानता भारोपीय परिवार की अन्य विदेशी भाषाओं के साथ हिन्दी या किसी भारतीय भाषाओं का नहीं है। 'ट' का उच्चारण भारोपीय परिवार की यूरोपीय भाषा में नहीं है, जबकि हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में है। इसी तरह महाप्राण ध्वनियों, नासिक्य ध्वनियों तथा शब्द और वाक्य के स्तर पर भी अन्तर्संबंध दिखायी पड़ते हैं। अंग्रेजी भाषा का पदक्रम जर्मन, स्पेनी और फ्रांसीसी भाषाओं से मिलता है। हिन्दी का पदक्रम भिन्न परिवार की होने के बावजूद भारतीय भाषाओं से तो मिलता है, पर एक ही परिवार के बावजूद अंग्रेजी से नहीं। हिन्दी में संज्ञा के बाद कारक चिह्न आते हैं। कारक चिह्न को परसर्ग कहते हैं। संज्ञा के बाद परसर्ग चिह्न आर्यभाषाओं, द्रविड़ भाषाओं तथा तिब्बती-बर्मी भारतीय भाषाओं मणिपुरी आदि में भी हैं। इस तरह की समानताओं के कारण एक साथ इनमें आपसी और निकट सम्पर्क हैं। भारतीय भाषाएँ

कश्मीरी, सिन्धी और उर्दू को छोड़कर कुल नौ लिपियों में लिखी जाती हैं। भारतीय भाषाओं की ये लिपियाँ ब्राह्मी से निकली हैं, जिससे देवनागरी उद्‌भूत है। इनमें हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि की लिपि तो देवनागरी ही है। भारत वर्ष जब तक अपने भाषिक अन्तर्संबंधों को भूलकर, अपनी देशीय अस्मिता को त्यागकर, अपने राष्ट्रीय तेवर को तिलांजलि देकर एक हुए बिना इसी तरह अपने व्यक्ति वर्चस्व को ध्यान में रखकर जीने का अभ्यासी बना रहेगा, तब तक अंग्रेजी कायम रहेगी और भारत में सांस्कृतिक दासता बनी रहेगी। सांस्कृतिक दासता से हमारी राष्ट्रीयता थकेगी। हमें स्मरण आता है कि -"भारत जैसे देश में राष्ट्रीयता का विकास सुदीर्घ ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम है।"

अट्ठानवे प्रतिशत भारतीय भाषाएं बोलनेवाली जनसंख्या पर दो प्रतिशत अंग्रेजी वालों द्वारा राज किया जा रहा है। भारत के गरीब लोग बच्चों को अंग्रेजी माध्यम के ऊँचे और महंगे स्कूलों में नहीं पढ़ा सकते। इनके लिए गाँव, कस्बे शहर और नगर की आबादी में पान दुकान की तरह उगे हुए अधकचरे और अराष्ट्रीय प्रकृति के अंग्रेजी माध्यम के स्कूल हैं। इन स्कूलों को चलाने वाले नौकरी से रिटायर्ड हुए रुपये कमाने की नियत वाले लोग हैं। रुपये कमाने की नियत वाले भ्रष्ट व्यापारी लोग भी ऐसे स्कूल चला रहे हैं। इनमें ऐसे ढेर सारे लोग हैं जो पढ़े-लिखे होने के बावजूद नौकरी नहीं पाने वाले बेकारी का दंश झेल रहे लोग हैं। इन स्कूलों में न तो मातृभाषाओं के प्रति रुचि पैदा करने का काम किया जा रहा है, न राष्ट्रभाषा के प्रति। ऊँची शिक्षा में जाकर डोनेशन के द्वारा नौकरी पाने वाले लोग ऊँचे घरों से हैं या नौकरी में रह रहे मध्य वर्ग के बच्चे हैं। इनमें किसान और मजदूर के बच्चे नहीं हैं। भारतीय भाषाओं की उपेक्षा करके अंग्रेजी भाषा में शिक्षा देने की अनुमति वाला हमारा देश इसीलिए पिछलग्गू है। अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, कनाडा, इटली, जापान, रूस तथा चीन में मातृभाषा ही शिक्षा का आधार है। चीनी छात्र विदेश में शिक्षा लेने के बावजूद अपने देश में चीनी भाषा में काम करते हैं। विदेशी कम्पनियाँ भी चीन में चीनी भाषा में ही काम करती हैं। इसीलिए स्कॉटलैण्ड के उद्योगपतियों ने अपने देश में चीनी भाषा पढ़ाये जाने की मांग की है। प्रायः नेता, किसी भी पार्टी से हों अंग्रेजी में बोलते हैं। ये किसके लिए बोलते हैं, और इससे भी ज्यादा बड़ा सवाल यह है कि कितनों के लिए बोलते हैं? अंग्रेजी में बोलने वाले नेता अपने गरीब, अशिक्षित मतदाताओं का लगातार अपमान कर रहे हैं।

न्यायालयों, सरकारी कार्यालयों, विज्ञान, तकनीकी ज्ञान की भाषा अंग्रेजी है। हिन्दी से चिढ़ भारत के दूसरे भाषा-भाषियों को भी है, अंग्रेजी से नहीं है। हिन्दी के महत्व को विदेश समझने लगा है। विदेशों के अनेक विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में हिन्दी को जोड़ लिया गया है। भारतवर्ष में भी अंग्रेजी को चुनौती देकर सरकारी उपेक्षा के बावजूद बाजार की भाषा के रूप में तनकर खड़ी है हिन्दी। जरूरत है इसके मानक रूप के सरलीकरण की। अब इंटरनेट और ईमेल में भी हिन्दी के लिए पोर्टल प्रारंभ हो चुके हैं। द्विभाषी और बहुभाषी सॉफ्टवेयर बन चुके हैं। सी.डी. के. पुणे द्वारा 'मंत्र' नामक अनुवाद तंत्र निर्मित हुआ है। आई.आई.टी. कानपुर ने आँग्ल भारतीय वर्ग के मेट तैयार किए हैं। हिन्दी सॉफ्टवेयर में भाषा शिक्षण सम्बन्धी सॉफ्टवेयर बनाए जा चुके हैं। सारांशतः हिन्दी में विज्ञान और तकनीकी ज्ञान भी आ रहा है। जरूरत है भारतीय भाषाओं में कम्प्यूटर की शिक्षा आरम्भ करके इसके प्रयोग के प्रचार की तथा अंग्रेजी को अपदस्थ करके भारतीय भाषाओं को बढ़ावा देने की। हिन्दी वालों को यह काम आगे बढ़कर करने की जरूरत है। हिन्दी को अहिन्दी भाषी प्रांतों में अनिवार्य करना चाहिए और साथ ही हिन्दी प्रान्तों में अहिन्दी भाषा प्रान्तों की भाषाओं को। त्रिभाषा सूत्र को मरने नहीं दिया जाना

था। राष्ट्रभाषा और सम्पर्क भाषा के रूप में हिन्दी को उचित सम्मान आपसी तालमेल के कारण मिलेगा, अलगाव के कारण नहीं। देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता स्वयं सिद्ध है। मामूली लिपि चिह्न के परिवर्तन से देवनागरी भारत की भाषाओं को लिखने में समर्थ है। देवनगारी लिपि में भारत जाग सकता है जैसे संस्कृत काल में था। भारत के सात लाख देहातों में रहने वाले गरीब लोगों का हित अंग्रेजी से नहीं सधेगा। न भारतीय भाषाएँ दुर्बल हैं न देवनागरी लिपि, दुर्बल हमारा संकल्प, हमारा राष्ट्रीय भाव, हमारी कला चेतना की भारतीय भावना है।

सहायक स्त्रोत

1. पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा :- भारतीय प्राचीन लिपिमाला, 1918 ई. पृ.सं.-2। **2.** डॉ. अनंत लाल चौधरी -- नागरी लिपि और हिन्दी वर्तनी, पृ.सं.-24। **3.** पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा :- भारतीय प्राचीन लिपिमाला, 1918 ई. पृ.सं.-62। **4.** डॉ. धीरेन्द्र वर्मा-- हिन्दी भाषा का इतिहास, पृ.सं.-86। **5.** सुनीति कुमार चटर्जी -- नागरीलिपि और हिन्दी वर्तनी, पृ.-1। **6.** डॉ. अनंत लाल चौधरी -- नागरी लिपि और हिन्दी वर्तनी, पृ.सं.-263। **7.** डॉ. सियाराम तिवारी, -- परिषद पत्रिका, अप्रिल 1961 पटना। **8.** आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-- नागरी प्रचारिणी पत्रिका 1912 जनवरी। **9.** डॉ. नामवर सिंह -- हंस, मार्च 1987 (निबंध) वासीभात में खुदा का साझा। **10.** वही, मार्च 1987। **11.** डॉ. रामविलास शर्मा -- भारतीय इतिहास की समस्याएँ। **12.** महात्मा गाँधी-- राचनात्मक कार्यक्रम, द्वितीय संस्करण 1945।

प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, मगध विश्वविद्यालय
चंचलायन राजापुर, बोधगया
(बिहार) - 824231
मो.- 9934145958
ईमेल-bharatsinghchanchala@gmail.com

●

आनन्दमय नृत्य

एक चित्र है – बालकृष्ण का चित्र। फुफकारते हुए भयंकर कालिय नाग पर कोमल चरण बालगोपाल का नृत्य और वंशीवादन। वंशीवादन का अर्थ है– मृत्यु पर अमर जीवन के आनंदमय नृत्यु की सूचना।

कालियनाग के पांच सिर, पांच इन्द्रियों के प्रतीक हैं, जिन पर विजेता आत्मा नृत्य करती है। अक्सर ये इंद्रियां ही जीवात्मा को नचाती है, जहाँ वह जरा सा चूका कि इंद्रियां उसे डस लेती हैं। उससे बचने का उपाय यही है कि हम वासनाओं से ऊपर उठें और अपने को बुद्धि-सारथी के हाथों सौंप दें। इस चरण-प्रहार से कालिय नाग विषवमन करने लगा। इधर कालिय नाग विष वमन कर रहा है और उध बालकृष्ण उसे अपने मधुर वंशी-निनाद से मुग्ध कर रहे हैं। विष से खाली हुए कर्ण-कुहरों को सुधा से भर रहे हैं।

बालकृष्ण का नृत्य काल पर, मृत्यु पर, जीवन का नृत्य है। आनंद हमारे जीवन का ध्रुव सत्य है।

जीवन और आनंद– इसी में भारतीय संस्कृति का सुरीला स्वर ध्वनित है। यह पुराण कथा इसी चिरंतन सत्य की वाहिका है।

संस्कृत की विदेशी शब्दावली

डॉ. सत्यव्रत वर्मा

संस्कृत भाषा व्याकरण के अनुशासन में ऐसी बंधी है कि उसमें वाह्य तत्त्वों के प्रवेश की कल्पना करना भी कठिन है, किंतु बारीकी से देखने पर वास्तविकता इससे भिन्न प्रतीत होती है। प्रत्येक जीवन्त भाषा की तरह संस्कृत ने भी अन्य भाषाओं के संपर्क में आकर उनसे काफी कुछ ग्रहण किया है। स्वभावतः यह प्रक्रिया एकपक्षीय नहीं हो सकती थी। संस्कृत ने यदि अरबी, फारसी, पहलवी, यूनानी, लैटिन आदि भाषाओं से शब्दों की प्रचुर संपदा ग्रहण की है, तो ये भाषाएं भी संस्कृत के प्रभाव से अछूती नहीं रही हैं। यह आदान-प्रदान की प्रक्रिया वैदिक काल में ही प्रारंभ हो गयी थी। वैदिक भाषा में विदेशी शब्दों की उपस्थिति से इस तथ्य की पुष्टि होती है। विदेशी भाषाओं के शब्दों को आत्मसात करने से न तो संस्कृत की शुद्धता पर आँच आई है, न उसके गौरव की क्षति हुई है, बल्कि इससे उसका शब्दकोश और समृद्ध बना है, उसमें नई स्फूर्ति आई है। रोचक बात यह है कि संस्कृत ने बाहरी प्रभावों पर अपने द्वार कभी बंद नहीं किये हैं। आरम्भिक युगों के लचीलेपन के विपरीत जब संस्कृत पर पाणिनीय शास्त्र की जकड़न इस कद्र बढ़ गयी कि उसमें एक अक्षर की घटत-बढ़त करना भी संभव नहीं रहा, तब भी विदेशी भाषाओं के शब्द संस्कृत में आते रहे।

यह प्रक्रिया आज भी जारी है, यद्यपि उसका स्रोत और स्वरूप बदल गया है। अब संस्कृत यद्यपि उस तरह लोक व्यवहार की भाषा नहीं है जैसे हिन्दी अथवा अंग्रेजी है, परन्तु जिस तत्परता और द्रुतता से वह प्रादेशिक और विदेशी प्रभावों को ग्रहण कर रही है, वह किसी आश्चर्य से कम नहीं है। यह संस्कृत की उदार तथा समावेशी प्रकृति का ही परिणाम है कि उक्त भाषाओं के सम्पर्क के कारण न केवल उसमें अनगिनत देशी-विदेशी शब्दों, अपितु मुहावरों, अभिनव विन्यास शैलियों, रचनापद्धतियों का समावेश भी हुआ है, जो पूर्ववर्ती साहित्य में अज्ञात थीं। संस्कृत साहित्य में आज जो कहानी, उपन्यास, ग़ज़ल, रूबाई, हाईकू, क्षणिका, अतुकान्त कविता की निर्मल धारा प्रवाहित हो रही है, उसका उद्‌गम विदेशी धरती से ही हुआ है। आश्चर्य नहीं होगा यदि कालान्तर में 'अर्वाचीन संस्कृत' नामक नवीन रचनाविधि का अविर्भाव-संस्कृत साहित्य में हो जाए।

पहले संकेत किया गया है, संस्कृत में विदेशी शब्दों का आगमन वैदिक युग में ही आरम्भ हो गया था। **'दम'** वैदिक भाषा का प्रसिद्ध शब्द है। इसका ऋग्वेद तथा अन्य संहिताओं में

प्रचुर प्रयोग हुआ है। अग्नि-स्तुति के अन्तर्गत ऋग्वेद के प्रथम सूक्त में ही ऋषि ने इसका रोचक प्रयोग किया है -- वर्धमानं स्वे दमे (ऋ.1.8)। सायणा ने 'दमे' का 'स्वगृहे यज्ञशालायाम्' अर्थ किया है। ऋग्वेद में अन्यत्र (1.75.5) अथवा यजुर्वेद में (8.24) जहां भी इसका प्रयोग हुआ है, वहां भी यह (यज्ञ-) गृह, यज्ञशाला का ही बोधक है। सचमुच अग्नि का घर यज्ञशाला ही है जहां वह पूर्ण वैभव से दीप्त होती है। वेद में गृह के अर्थ में हलन्त दम् शब्द भी मिलता है। दम की भांति इसका भी संहिताओं में खूब प्रयोग किया गया है। 'पति' के साथ इसका विशेष साहचर्य है, और भाष्यकारों ने प्रायः सर्वत्र उसका 'गृहपति, गृहस्वामी' किया है। ऋग्वेद में व्यापक प्रयोग होने पर भी 'दम'/दम् को वैदिक भाषा का शब्द नहीं माना जा सकता। यह परायी सम्पत्ति है, जिसे वैदिक आर्यों ने यूनानी तथा लैटिन भाषाओं से लिया है। ग्रीक शब्द domos और लैटिन शब्द domus 'दम' के सजातीय ही नहीं बल्कि इसके आधार-स्रोत हैं। domos और domus ही वैदिक सांचे में ढल कर 'दम'/'दम्' के रूप में प्रकट हुए हैं। 'दम' शब्द तो लौकिक संस्कृत तक नहीं पहुँच पाया, किन्तु 'दम्' दम्पती में आज भी जीवित है। सर्वविदित है कि 'दम्पती' का अर्थ पत्नी (जाया) और पति अर्थात् पति-पत्नी है। 'दम्पती' में जाया के स्थान पर दम् आदेश (स्थानापन्न) करने का रहस्य यह है कि यहां पर घर (गृह) का बोधक 'दम्' शब्द लक्षणा से 'गृहिणी' का वाचक है। पुरानी कहावत है -- घर घर नहीं होता, गृहिणी ही सच्चा घर है। 'न गृहं गृहमाहुर् गृहिणी गृहमुच्यते।'

चन्द्र तथा चन्द्रमा पर्यायवाची शब्द माने जाते हैं। परन्तु ऋग्वेद में चांद के अर्थ में न चन्द्र का प्रयोग हुआ है, न चन्द्रमा का। उसमें चांद के लिये 'मास्' शब्द आया है और 'चन्द्र' को उसके विशेषण के रूप में ग्रहण किया गया है। विशेषज्ञों के अनुसार ऋग्वेद में 'चन्द्र' सात बार 'मास्' का विशेषण बन कर आया है। चन्द्र का व्युत्पत्ति-जन्य अर्थ चमकीला, कान्तिमान् है। इस अर्थ से वह जल, अग्नि, रथ, सूर्य आदि की श्रेष्ठता को भी व्यक्त करता है। इसका मास् के साथ समास करने से चन्द्रमा पद बनता है, जिसका अर्थ 'चमकीला चाँद' है। मास् विशेष्य के साथ प्रयोग से मास् का अर्थ शनैः शनैः विशेषण चन्द्र में संक्रान्त हो गया और वह विशेषण के स्थान पर स्वयं विशेष्य बन गया। अब उसका अर्थ चांद हो गया। इस अर्थ में चन्द्र का सबसे पहले अथर्ववेद में प्रयोग हुआ -- सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न ऋष्यतः (2.15.3), चन्द्र यत्ते तपः (2.22.1)। इसके पश्चात् तो वैदिक साहित्य में 'चन्द्र' का चांद के अर्थ में व्यापक प्रयोग हुआ है (यजु., 22.28)। पर हैरानी की बात है कि मास् शब्द भी मूलतः संस्कृत का शब्द नहीं है। यह अरबी-फारसी से वैदिक संस्कृत में आया है। इसका अरबी रूप माह् था जो वैदिक भाषा में मास् में रूपान्तरित हो गया। माह् शब्द आज भी उर्दू में खूब प्रचलित है। प्रस्तुत शेर में इसका बहुत मार्मिक प्रयोग हुआ है -- **माहे कामिल माहे नौ दोनों हसीं है लेकिन, एक सिन जो ज़रा कम है के हिलाल अच्छा है।।**

'असुर' शब्द जिस अर्थ में अब प्रयुक्त किया जाता है, वह उसका असली अर्थ नहीं है। असुर का मूल अर्थ असु+र प्राणवान्, शक्तिशाली है। ऋग्वेद के प्राचीन मन्त्रों में यह इसी अर्थ का वाचक है और उनमें प्रायः सभी देवताओं को असुर कह कर सम्बोधित किया गया है। किन्तु यह जान कर आश्चर्य होता है कि यह गौरवशाली तथा देवतावाची असुर शब्द भी वैदिक संस्कृत की अपनी सम्पत्ति नहीं है। यह मूल रूप से असीरियाई भाषा का शब्द है, जो पारसी के द्वार से वैदिक संस्कृत में प्रविष्ट हो गया है। असीरियाई में इसका अर्थ देवता ही था। जब ईरान पर असीरियाइयों का शासन हुआ तो यह पारसी में आया। फिर ईरान के साथ सम्पर्क के कारण 'असुर' भारत में आ गया और वैदिक भाषा

में अपने मूल अर्थ (शक्तिशाली, देवता) में प्रचलित हो गया। भारतीयों ने पारसी के 'अहुर' को 'असुर' रूप दिया जैसे उन्होंने 'माह्' को 'मास्' बनाया था। किन्तु विडम्बना देखिए, ऋग्वेद के परवर्ती भागों में 'असुर' के अर्थ का पतन होने लगा और धीरे-धीरे इसका अर्थ दैत्य हो गया। ऋग्वेद के एक सूक्त में 'असुर' दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है (10.124. 3-5)। असुर का दैत्य अर्थ उदित होने पर असुर के 'अ' को निषेधात्मक उपसर्ग मान लिया गया और उसे हटा कर देवतावाची 'सुर' शब्द गढ़ लिया गया, जैसे 'असित' से 'सित' और विधवा से 'धव' बनाया गया है।

निरुक्त के अनुसार **'नेम'** शब्द 'अर्ध' का पर्याय है - त्वो नेम इत्यर्धस्य। मोनियार विलियम्स ने अपने कोश में नेमचन्द्र, नेमपिष्ट, नेमस्पृष्ट उदाहरणों से 'नेम' के इस अर्थ को स्पष्ट किया है। इनका अर्थ क्रमशः आधा चाँद, अर्धपिसा और अधछुआ है। मैत्रायणी संहिता के प्रसिद्ध वचन 'नेमे देवा नेमेऽसुराः' (1.11.9) में नेम इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है- आधे देवता, आधे असुर। परन्तु आश्चर्य कि यह भी वैदिक संस्कृत की अपनी पूंजी नहीं है। 'नेम' अरबी से वैदिक संस्कृत में आया है। यह 'नीम' के रूप में उर्दू में सुरक्षित है-- नीम हकीम खतरा ए जान। लोकमान्य तिलक के अनुसार जर्फरी, तुर्फरी आदि शब्द खल्दी भाषा से वैदिक संस्कृत में आए हैं।

लौकिक संस्कृत में भी विदेशी शब्दों की कमी नहीं है। इन शब्दों में **'पुस्तक'**, शायद सबसे रोचक और आश्चर्यजनक है। यह संस्कृत में ऐसा रचा-पचा है कि यह कल्पना करना भी सम्भव नहीं कि यह संस्कृत का अपना शब्द नहीं है। समूचे वैदिक साहित्य में 'पुस्तक' शब्द का कहीं भी प्रयोग नहीं हुआ है। पाणिनि और पतञ्जलि में भी यह उपलब्ध नहीं है। अश्वघोष और कालिदास भी 'पुस्तक' से परिचित नहीं हैं। सुविख्यात अमरकोष में भी यह शब्द नहीं मिलता है। प्राचीन मान्य साहित्य में पुस्तक शब्द का अभाव इस तथ्य का द्योतक है कि यह संस्कृत का अपना शब्द नहीं है बल्कि कहीं बाहर से आकर किसी समय, इस भाषा में हिल-मिल गया है। पुस्तक शब्द का प्राचीनतम प्रयोग शूद्रक के नाटक मृच्छकटिक (लगभग पांचवीं शताब्दी) में आया है। वसन्तसेना के घर के वर्णन में अन्य सामग्री के अतिरिक्त 'पोत्थअ' (पुस्तक) का भी उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि पुस्तक शब्द पांचवीं शताब्दी के मध्य में पहलवी भाषा से संस्कृत में आया। पहलवी में चमड़े की खाल को 'पुस्त' कहते हैं। ईरान में ग्रन्थ 'पुस्त' (खाल) पर लिखे जाते थे। कालक्रम से लिखने का आधार (पुस्त), आधेय (ल्खन) का वाचक बन गया जो उस पर लिखा जाता था। बाण के उल्लेखों से स्पष्ट है कि सातवीं शताब्दी तक पुस्तक का ग्रन्थ के अर्थ में व्यापक प्रयोग होने लगा था। बाणाके पास पुस्तकों का विशाल संग्रह था और उसने एक पुस्तक-वाचक रखा हुआ था जिसका नाम सुदृष्टि था। सुदृष्टि बाण को प्रतिदिन वायु पुराण सुनाया करता था।

प्राचीनकाल में लेखनी का पुस्तक के साथ अटूट सम्बन्ध था क्योंकि हस्तलिखित ग्रन्थ लेखनी से ही लिखे जाते थे। लेखनी के लिये **'कलम'** शब्द भी मिलता है। मोनियर विलियम्स, आप्टे आदि के आधुनिक संस्कृत कोषों में कलम के धान के अतिरिक्त लेखनी तथा सरकण्डा अर्थ दिये गये हैं, जबकि अमरकोष में केवल 'धान' अर्थ अंकित है। कलम ध्वनि और आकृति से ही बाहरी शब्द प्रतीत होता है। लैटिन में कलम को 'कालामुस' और यूनानी में 'कलमौस' कहते हैं। 'कालामुस' और 'कलमौस' ही फारस के रास्ते अरब जाकर भारत में आकर 'कलम' बन गये हैं। अब चमत्कार देखिये। फारसी में 'कलम' के साथ 'दान' लगा कर कलमदान शब्द गढ़ा गया जिसका अर्थ है वह पात्र जिसमें कलम रखी जाती हैं। यह 'दान' संस्कृत 'धान' का ही रूपान्तर है। मतलब यह कि पहले

संस्कृत ने अरबी-फारसी से 'कलम' शब्द लिया, उसके बाद फारसी ने संस्कृत से धान (दान) लेकर कलमदान बना लिया। राजधानी का उत्तरपद 'धानी' इसी 'धान' का स्त्रीलिंग रूप है। इसकी तर्ज पर कलमदान (कलमधान) को कलमधानी कहना भी अनुचित नहीं होगा।

बाण ने अपने ग्रन्थों में जिन नाना वस्त्रों का वर्णन किया है, उनमें **पृंग** या पिंगा उल्लेखनीय है। हर्षचरित के मेधावी टीकाकार शंकर ने पृंग को 'नेत्र' नामक वस्त्र का पर्याय माना है। बौद्ध संस्कृत में भी पृंग शब्द मिलता है। पृंग वस्तुतः मध्य एशियाई शब्द है जो वहां 'प्रिघ' के रूप में विद्यमान है। पहलवी और फारसी में यह 'परंद' बन गया। पंजाबी 'परांदा' इसी 'परंद' से बना प्रतीत होता है। शंकर ने पृंग का 'नेत्र' अर्थ किया है। यद्यपि पृंग और नेत्र दोनों रेशमी वस्त्र थे पर 'नेत्र' श्वेत रंग का वस्त्र था जबकि 'पृंग' रंगीन वस्त्र है।

ऊंट के लिये **क्रमेलक** शब्द प्रसिद्ध है। इसे संस्कृत भाषा का शब्द मानकर इसकी व्युत्पत्ति की मनोरंजक कल्पना की गई है। संस्कृत के वृहत्कायशिरोग्रीव कोश में क्रमेलक की यह व्युत्पत्ति दी गयी है -- क्रमेण एलति गच्छति इति क्रमेलकः (ऊंट को क्रमेलक इसलिये कहा जाता है क्योंकि वह धीमी-धीमी गति से चलता है)। यह व्युत्पत्ति न केवल ऊंट की गति से मेल नहीं खाती क्योंकि वह सदैव मन्दगति से ही नहीं चलता, बल्कि व्याकरण की दृष्टि से भी यह हास्यास्पद है। संस्कृत में एल् नाम की कोई धातु ही नहीं है। अतः उसके आधार पर उक्त व्युत्पत्ति करना कोरी कपोल-कल्पना है। क्रमेलक के मूल की अनभिज्ञता के कारण ही यह निरर्थक चेष्टा की गयी है। क्रमेलक मूलतः संस्कृत का शब्द नहीं है। यह यूनानी भाषा के शब्द 'केमलौस' का रूपान्तर है। अंग्रेजी का 'केमल' इसी 'केमलौस' से बना है। हिब्रू में इसने 'गमेल' रूप धारण कर लिया है।

जिस भूमिगत मार्ग को हिन्दी में **सुरंग** कहते हैं, उसके लिये संस्कृत में स्त्रीलिंग 'सुरंगा' शब्द प्रयुक्त होता है, यद्यपि (कुछ विद्वानों के अनुसार) सुरंग भी अज्ञात नहीं है। हेमचन्द्र की अभिधान चिन्तामणि में सुरंगा का अर्थ 'धरती के भीतर बनाया गया गुप्त मार्ग' किया गया है-- गूढमार्गे भुवोऽन्तरे। भानुजि दीक्षित ने इसे 'तिर्यग्भूखातः' कहा है -- भूमिगत टेढा मार्ग। आधुनिक कोशों में लगभग यही अर्थ मिलता है -- A subterranean passage। साहित्य में भी सुरंगा शब्द ही मिलता है। दशकुमारचरित में, भिन्न-भिन्न प्रसंगों में, इसका चार बार प्रयोग किया गया है-- तावतीं सुरङ्गा कारयित्वा (पृ. 95)। मुद्राराक्षस नाटक में भी सुरंगा ही प्रयुक्त हुआ है -- सुरङ्गामेत्यापक्रान्ते। परन्तु सुरंगा भी उधार की पूंजी है। यह मूलतः यूनानी शब्द है, जहाँ यह 'सुरिंख' के रूप में विद्यमान है। 'सुरिंख' ही संस्कृत में आकर सुरंग अथवा सुरंगा बन गया है। दशकुमारचरित में इसके प्रयोगों से स्पष्ट है कि यह लगभग छठी शताब्दी के अन्त तक संस्कृत में घुलमिल गया था।

मेदिनी, विश्व, अभिधान चिन्तामणि आदि संस्कृत कोशों में **'गंज'** और **'गंजा'** क्रमशः भाण्डागार (खजाना) तथा मदिरालय अर्थ में पढ़े गये हैं। अमरसिंह ने गंजा को 'मदिरागृह' कहा है, अभिधान चिन्तामणि में यह 'सुरागृह' का पर्याय है। आधुनिक कोशों में भी इनके यही अर्थ दिये गये हैं। संस्कृत में गंज् धातु का अर्थ 'विशेष प्रकार का शब्द करना' है और गंजन का अर्थ 'तिरस्कार करना, मात देना' है। साहित्य में यद्यपि गंज, गंजा तथा गंजन तीनों का प्रयोग हुआ है, किन्तु गंजन के प्रति कवियों का कुछ विशेष अनुराग है। गीतगोविन्द में जयदेव ने इसका बड़ा साभिप्राय प्रयोग किया है- स्थल कमल गंजनं मम हृदय रंजनम्। साहित्यदर्पण की प्रसिद्ध उक्ति 'नेत्रे खंजनगंजने' में भी गंजन पूर्वोक्त अर्थ का ही वाचक है। इन कोशगत तथा साहित्यगत प्रयोगों के बावजूद गंज संस्कृत की अपनी सम्पत्ति नहीं है।

यह वास्तव में फारसी का शब्द है। फारसी में खजाने को 'गंज' कहते हैं और खजाने का अधिकारी 'गंजवर' कहलाता है। फारसी के ये दोनों शब्द उनके मूल अर्थों में ही संस्कृत में ज्यों के त्यों ग्रहण कर लिये गये हैं। राजतरंगिणी में गंज 'खजाना' (8.30.28) और गंजवर 'खजांची' (5.175) अर्थ में ही प्रयुक्त हुए हैं।

द्रम्म शब्द संस्कृत की शब्दावली में ऐसा घुला-मिला है कि इसे विदेशज मानने का साहस करना भी कठिन होगा। किन्तु यह संस्कृत की अपनी उपज नहीं है। यह यूनानी 'द्राख्मे' का परिष्कृत रूप है। 'द्राख्मे' यूनानी सिक्का था जिसे रोमनों ने भी अपनाया और उसका नाम 'द्राख्मा' रखा। यूनान के साथ सम्पर्क के कारण 'द्राख्मे' भारत में आ गया और 'द्रम्म' के रूप में प्रसिद्ध हो गया। यही द्रम्म हिन्दी में दाम बन गया है। इसी प्रकार 'दीनार' ('दिनेरियस' -- Denarieus) का रूपान्तर है।

यूनानी भाषा का सबसे अधिक प्रभाव ज्योतिष की शब्दावली पर पड़ा है। ज्योतिष के अनेक शब्द यूनान से चलकर भारत आए हैं। उदाहरणार्थ **होरा** शब्द शुद्ध रूप से यूनानी है। फर्क इतना है कि ग्रीक भाषा में इसका अर्थ 'समय' है, संस्कृत में घण्टा, जो समय की ही एक इकाई है, **'केन्द्र'** शब्द के लिये भी भारत यूनान का ऋणी है। यह यूनानी 'केट्रन' से निकला है। उधर **जामित्र** डिआमेट्रौन का रूपान्तर है। **ताजक** मूलतः फारसी का शब्द है, जिसने संस्कृत में ताजिूक, तापिक, तार्जिक आदि रूप धारण किये हैं।

विदेशी शब्दों के अतिरिक्त संस्कृत में बहुत से शब्द द्रविड़ भाषाओं से भी आए हैं, और अब अन्य प्रादेशिक भाषाओं से भी आ रहे हैं। उनका गहराई से अध्ययन करना रोचक तथा उपयोगी होगा।

7/34 पुरानी आबादी
नामदेव फ्लोर मिल के पास
श्रीगंगानगर (राज.)-335001
मो.-7296825452, 9461281112

●

इकतारा

संतों के हाथ में 'इकतारा' होता है, एक सीधा सरल तार वाद्य। उसी के झंकार में उनके भाव भजन उमड़ते हैं। 'इकतारा' यह तो अंतः साधना है, जिसकी बाहर झण्कार है।

सत गुरु सबदे रे सतव्रत साधिए रे
आराधिए अंतर आत्मराम।

साधक सद्गुरु के शब्द पर जैसे ही चला तो सतव्रत साधा। सतव्रत का अर्थ है– सत्विचार, सत् वाणी और सत् वर्णन तीनों का सीध में आ जाना। तीनों अब सीध में है। जैसा विचार, वैसी वाणी, जैसी वाणी वैसा आचरण। जबकि दुनिया में बात और विचार और, कथनी और करनी कुछ और। तीनों में मेल नहीं। यह कुटिलता है, यही जटिलता है। जबकि संतों का मार्ग सीधा। स्वभाव सीधा। और हाथ में बस 'इकतारा'– यानी जीवन में सादगी, सच्चाई, सिधाई– तीनों एकाकार! ऐसा 'इकतारा' भीतर बजता है तब गाता है कोई–

सबद झण्कारा है
कर नैनां दीदार
महल में प्यारा है
खुल गए भरम किंवार
सबद झणकारा है।

जम्मू-कश्मीर और लद्दाख का हिन्दी साहित्य

प्रो. राजकुमार

1750 ई. से पूर्व रावी नदी के पश्चिमी क्षेत्र अर्थात् जम्मू क्षेत्र के राजदरबारों में साहित्य लेखन की किसी परम्परा की कोई चर्चा नहीं मिलती, न ही इस क्षेत्र में लिखित ब्रज भाषा-साहित्य की परम्परा उपलब्ध है। हां, सुकराला देवी के मंदिर (निर्माण 1750 ई. के बाद) के पुजारी शिव नंदन ने अपने पूर्वजों को कवि कहा है और कहा है कि त्रिलोचन प्रथम कवि हैं और उसके पुत्र महादेव का कवि समाज में सम्माननीय स्थान रहा है, फिर महादेव का पुत्र शिव नंदन जगत प्रसिद्ध हुआ। कवि समाज में सम्मानीय स्थान वाले महादेव को जम्मू के राजा ध्रुवदेव का समकालीन मान लें तो 1725 ई. के आस-पास इस समूचे क्षेत्र में कवि समाज तो था परन्तु इस समाज का कोई लिखित साहित्य नहीं मिलता। बल्कि सत्य तो यह है कि कवि दत्तु के लेखनकाल से पूर्व 1760 ई. तक इस क्षेत्र में लिखित साहित्य उपलब्ध नहीं। यही कारण है कवि दत्तु को ही रावी नदी के पश्चिमी क्षेत्र (जम्मू) का प्रथम कवि माना जाता है।

कवि दत्तु का रचनाकाल 1761 ई. से आरम्भ होता है जब इन्होंने 'महाभारत' के द्रोण पर्व का "वीरविलास" शीर्षक के अन्तर्गत काव्यानुवाद आरम्भ किया। महाराज ब्रजराज देव के शासनकाल (1768 ई. तक) के बाद तक जीवित रहे कवि दत्तु जम्मू में कथावाचक के रूप में काम करते रहे। ये आरम्भ में भड्ड राज्य के आश्रय में रहे तदोपरांत जम्मू के महाराजा रणजीत देव के राज्याश्रय में रहे। इन्होंने संस्कृत काव्य के अतिरिक्त 'वीर विलास', 'ब्रजराज पंचासिका', "बारह-मासा" आदि रचनाएं ब्रजभाषा में लिखी। 'ब्रजराज पंचासिका' में कहीं-कहीं डोगरी के शब्द भी मिल जाते हैं। इससे डोगरी भाषा का भी इन्हें प्रथम कवि माना जा सकता है। कवि दत्तु न केवल अच्छे अनुवादक और रस सिद्ध कवि ही थे, वह संस्कृत और ज्योतिष के भी अधिकारी विद्वान माने जाते हैं और कवि मंगल के बाद समूचे शिवालिक क्षेत्र के दूसरे रससिद्ध और सिद्धस्थ अनुवादक कलाज्ञ हैं।

पुजारी शिवनंदन और कवि दत्तु के समकालीन तथा ब्रजराज देव के दरबारी कवि पण्डित गंगाराम कृत "सुकराला देवी" का एक स्तोत्र माना जाता है, परन्तु यह उपलब्ध नहीं है। इसी काल में लिखित संस्कृत काव्य "मल्लार्विभाव" भी उपलब्ध नहीं हुआ है। इसी काल में बसोहली के राजा अमृतपाल (1757-76 ई.) के शासनकाल में पण्डित श्रीकण्ठ नामक ज्योतिषी ने ज्योतिष विद्या पर एक ग्रन्थ लिखा जो भी उपलब्ध नहीं, इन्होंने

ज्योतिषीय "बलौरी पत्तरी" भी चलाई। इन तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में रावी नदी के पश्चिमी क्षेत्र में ब्रजभाषा में छुटपुट ही सही साहित्य तो लिखा जा रहा था परन्तु उसे संजोने का यत्न नहीं किया गया था। यह भी सुनने में आता है कि लोग अपने पूर्वजों के देहान्त के बाद उससे सम्बद्ध 'कागज पत्तरों' को जल में प्रवाहित कर देते था या कूड़ा फेंकने के काम में लाते थे। खैर, कारण चाहे कोई भी रहा हो, इस शताब्दी में लिखित साहित्य का बहुत थोड़ा अंश ही उपलब्ध होता है। महाराजा रणजीत देव के देहांत के बाद 1781 ई. से ब्रजराजदेव ने 1786 ई. तक जम्मू की राजगद्दी संभाली परन्तु इन्होंने नये कवियों, साहित्यकारों को प्रश्रय देने की ओर ध्यान नहीं दिया। उनके शासनकाल के बाद गुलाबसिंह के शासनकाल (1786 ई. से 1822 ई. तक) इस क्षेत्र में राजनीतिक उथल-पुथल और अराजकता चलती रही जिससे राजदरबारों में साहित्य लेखन की परम्परा छिन्न-भिन्न हो गई।

इस तरह कहा जा सकता है कि 18वीं शताब्दी के अंतिम और 19वीं शताब्दी के आरम्भिक दशकों में सुकराला देवी के क्षेत्र के कवि दत्तु के भाई नन्दराम का पुत्र शिवराम ही भजन और कविता लिख रहा था। इनकी कविता में डोगरी, पंजाबी और ब्रजभाषा का मिश्रित रूप मिलता है। कवि शिवराम का रचनाकाल जम्मू के राजा गुलाब सिंह (1822 ई.) से पूर्व का काल है। कवि दत्तू के समकालीन कवि गंगादत्त (1758-1826 ई.) ने भी अट्टारहवीं शताब्दी में रचनाकर्म आरम्भ करके 19वीं शताब्दी के प्रथम दीन दशकों तक साहित्य सृजन किया परन्तु इनका साहित्य उपलब्ध नहीं है। गुलाबसिंह की तरह सिक्ख राज्य ने 1822 ई. में सुचेत सिंह को साम्बा का राजा बनाया। कहा जाता है कि राजा सुचेत सिंह के राज्य काल में साम्बा का रहने वाला तरखान कवि लक्खू भी ब्रज भाषा और लोक भाषा डोगरी में कविता लिख रहा था। ब्रज भाषा में लिखी उनकी दो उपलब्ध 'बुझारतों' (एक काव्य-विधा) का वर्णन मात्र मिलता है, बुझारतों को संकलित और प्रकाशित नहीं किया गया।

रावी नदी के पूर्वी क्षेत्र में अठारहवीं शताब्दी में कवि-कर्म आरम्भ करके 1833 ई. तक जीवित रहे चित्रकार कवि मौलाराम तोमर का बड़ा महत्व है, इनकी दर्जनों रचनाएं उपलब्ध हैं। गढ़वाल राज्य से कांगड़ा क्षेत्र में आ बसे मौलाराम को कांगड़ा कलम का विश्व प्रसिद्ध चित्रकार भी माना जाता है। 1834 ई. में राजा हीरा सिंह को जसरोटा का राज्य दिया गया था। कहा जाता है कि कवि दत्तु के पौत्र (शिवसेवक के पुत्र) विद्यानिधि का उसके दरबार में आना-जाना था। विद्यानिधि ने समस्या पूर्ति करके राजा से 500/- रुपया का पुरस्कार प्राप्त किया था। आगे चलकर विद्यानिधि ने 'महाभारत' के 'कर्ण-पर्व' का ब्रजभाषा में 'वीर विनोद' नाम से पद्यानुवाद किया। यह ग्रन्थ अप्रकाशित और अनुपलब्ध है, हां इसका एक उद्धरण पण्डित गौरी शंकर ने प्रस्तुत किया है।

अगस्त 1856 ई. में महाराजा रणवीर सिंह ने जम्मू-कश्मीर राज्य की बागडोर संभाली। इनके शासनकाल (1856-1885 ई.) में साहित्य सृजन की अपेक्षा आचार संहिता, कर्मकाण्ड, राजकीय प्रबन्ध, ज्योतिष और वैद्यक से सम्बन्धित विषयों पर अधिक काम हुआ। इन विषयों के विद्वानों के अतिरिक्त दरबार में कुछेक महत्वपूर्ण कवियों और साहित्यकारों को भी आश्रय प्राप्त था जिनमें से प्रमुख हैं- पण्डित भवनाथ के पुत्र नीलकण्ठ, कवि शिवराम के पुत्र त्रिलोचन, त्रिलोचन के भाई रुद्रदत्त, कवि दत्तु के पौत्र विद्यानिधि और कवि पण्डित गंगाराम आदि। इन सभी कवियों की कुछेक रचनाएं उपलब्ध हैं।

पंडित गंगाराम महाराजा रणवीर सिंह के आश्रित कवि बनने से पूर्व कांगड़ा दरबार के कवि और राजगुरु थे। उनकी प्रसिद्धि के कारण मण्डी (हिमाचल प्रदेश) के राजा ने भी उनसे दीक्षा प्राप्त की थी। मूलतया यह साम्बा के आस-पास के रहने वाले थे। जब महाराजा रणवीर सिंह ने कवि गंगाराम की विद्वत्ता की चर्चा सुनी तो स्वयं कांगड़ा गए और

इन्हें अपने दरबार में ले आए। इन्होंने राजाज्ञा से संस्कृत के अनेक ग्रन्थों का अनुवाद किया और वृहद ग्रन्थ 'रणवीर प्रायश्चित' की रचना की। अंततः महाराजा रणवीरसिंह के देहान्त के उपरान्त संन्यास लेकर हरिद्वार में कुशाघाट पर रहने लगे, वहीं इनका देहान्त हो गया।

कवि त्रिलोचन ने 1862 ई. में 'महाभारत' के शान्तिपर्व का 'नीति विनोद' नाम से काव्यानुवाद किया। परन्तु यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है। इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि पण्डित गौरीशंकर ने देखी थी। कवि त्रिलोचन के भाई रुद्रदत्त को डोगरी भाषा का कवि माना जाता है, इन्होंने ब्रजभाषा में बहुत कम लिखा है। कहा जाता है कि यह महाराजा रणवीर सिंह के दरबार से नाराज होकर कांगड़ा चले गए और अंततः गुलेर के राजा शमशेर सिंह के दरबारी कवि बने और सपरिवार वहीं बस गए। इन कवि रुद्रदत्त के पिता का नाम कवि शिवराम है।

परन्तु हिमाचल अकादमी के अनुसार कवि रुद्र के पिता हैं - भीखा। इनका जन्म माल्हा गांव (गुलेर) में हुआ और कर्म क्षेत्र है कांगड़ा। यह स्पष्ट नहीं है कि रुद्र और रुद्रदत्त एक ही कवि का नाम है या ये दोनों अलग-अलग व्यक्ति हैं। कवि शिवराम का पुत्र रुद्रदत्त भी तो गुलेर राज्य में बस गया माना गया है। भीखा के पुत्र कवि रुद्र का देहान्त 1874 ई. में हुआ। कवि रुद्र को गुलेर रियासत का कृष्णभक्त कवि और फुटकर रचनाओं का सर्जक कहा गया है। इनकी रचनाओं में शृंगार रस, कृष्ण भक्ति, मथुरा, वृन्दावन, गोकुल, हरिलीला, नखशिख, नायिका भेद और नीति सम्बन्धी प्रसंगों का वर्णन हुआ है।

महाराजा रणवीर सिंह के समकालीन और कवि भवनाथ के पुत्र दरबारी कवि पण्डित नीलकण्ठ की 1885-87 ई. के बीच अनेक रचनाएं प्रकाशित हुई। प्रो. रामनाथ शास्त्री के अनुसार ये रचनाएं ग्यारह हैं। नीलकण्ठ का देहान्त 1890 ई. में हुआ। इनकी रचनाओं में पण्डित भवनाथ की रचनाएं भी सम्मिलित प्रतीत होती हैं। रावी नदी के पश्चिमी क्षेत्र के 19वीं शताब्दी के यह ऐसे अंतिम कवि हैं, जिनकी रचनाएं उपलब्ध हैं।

रावी नदी के पश्चिम में जम्मू क्षेत्र में 1925 ई. तक महाराजा प्रताप सिंह का शासनकाल रहा। इनके शासनकाल में राजदरबार की ओर से पूजापाठ, कर्मकाण्ड, यज्ञ, तप, दान आदि की ओर अधिक ध्यान दिया जाता रहा। प्रतीत होता है कि राज्य की ओर से साहित्य-सृजन को प्रोत्साहित नहीं किया गया। महाराजा ने रियासत और रियासत के बाहर से अनेक पाण्डुलिपियों को एकत्रित करवा कर संगृहीत करवाया और मिस्टर स्टीन द्वारा इनकी सूची तैयार करवायी। महाराजा प्रतापसिंह के शासनकाल में विद्यानिधि के पौत्र वामदेव ने जसरोटा की वजारत से दुखी होकर ब्रजभाषा में एक कविता लिखकर महाराजा प्रतापसिंह को भेजा। ब्रजभाषा में लिखा यह उनका एकमात्र कवित्त उपलब्ध है जिसे पण्डित गौरीशंकर ने प्रकाशित किया है। वस्तुतः कवि वामदेव को डोगरी का ही कवि माना जाता है। कवि वामदेव के अतिरिक्त महाराजा प्रतापसिंह के शासनकाल के किसी अन्य कवि के प्रति कहीं चर्चा नहीं मिलती।

आधुनिक हिंदी साहित्य के विकास के इतिहास-क्रम को देखें तो भारतेंदु काल में जम्मू-कश्मीर के हिंदी साहित्यकार पंडित नीलकंठ और संत कवि परमानंद की हिंदी कविता में प्रकृति, आत्मा, परमात्मा, माया और मानवता संबंधी मूल तत्वों के विवेचन के साथ-साथ भक्ति भावना और अद्वैत के अंतर्गत अध्यात्म चर्चा कविता का विषय था जबकि 1885 ई. तक भी भारतेंदु कालीन देश भक्ति, समाज सुधार, भाषा-प्रेम आदि की प्रवृत्तियाँ यहां विकसित नहीं हो पाई थी।

1925 ई. में जब छायावाद अपने विकास क्रम में आगे बढ़ रहा था तब कश्मीर के संत पंडित जिन्दा कौल शंकर के वेदांत से प्रभावित रहस्यवादी कविताएं लिख रहे थे। जबकि जम्मू के स्थानीय कवियों के काव्य में कोई विशेष कौशल नहीं था। कवि पंडित नरोत्तम शर्मा शास्त्री गांगेय और पंडित दुर्गा प्रसाद मिश्र जम्मू-कश्मीर के बाशिंदे होकर भी

रियासत से बाहर बस गए थे। अतः उनकी कविताओं से जम्मू-कश्मीर की साहित्य परंपरा के विकास में कोई योगदान नहीं मिला। सत्यवती मल्लिक की रचनाएं 1935 ई. से प्रकाशित होने लगी थीं, लेकिन इनका सृजन-क्षेत्र भी जम्मू-कश्मीर से बाहर दिल्ली में रहा, जबकि इनकी छोटी बहन पुरुषार्थवती (देहांत 1930 ई.) का कविता संग्रह 'अंतर्वेदना' लाहौर से प्रकाशित हो चुका था।

पुरुषार्थवती की रचनाओं पर महादेवी वर्मा का प्रभाव है, लेकिन मौलिक प्रतिभा का भी अभाव नहीं, भावुकता का स्तर अत्यधिक तीव्र होकर आह्लादक है। पंडित नरोत्तम शास्त्री गांगेय कलकत्ता और काशी में रहे। उन्होंने निबंध भी लिखे लेकिन मूलतः वे कवि थे। उनके सुपुत्र डॉ. विष्णुकांत शास्त्री ने लिखा है कि उनकी एकमात्र कविता पुस्तक है - 'मालिनी मंदिर' या 'फूलों की दुनिया'। उनकी कविता की विशेषता का हवाला देते हुए डॉ. विष्णुकांत शास्त्री लिखते हैं, 'उनकी कविताओं में देशभक्ति, करुणा, साहस, प्रकृति प्रेम एवं सांस्कृतिक चेतना की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है।' द्विवेदी युग और छायावादी युग की विशेषताएं उनकी रचनाओं में सहज ही परिलक्षित हो जाती हैं, प्रधानता द्विवेदी युगीन मनोभावों की ही है। नास्तिकता और धर्म के प्रति अनास्था से वे क्षुब्ध रहते थे और धार्मिकता को भारतीयता का अभिन्न अंग मानते थे। वे संघर्ष-विमुख स्वप्न विलासी न होकर हमारी चेतना को कुंठित कर रखने वाले विदेशी शासन के विरुद्ध थे और पुरातन मूल्यों के संरक्षण को महत्व देते हुए सनातन संस्कृति के उत्तराधिकार के प्रति निष्ठावान थे।

पंडित हरदत्त शर्मा 1948 ई. तक जम्मू-कश्मीर में रहकर साहित्य सृजन करते रहे। उन्होंने साप्ताहिक 'दीपक' निकाला। ओम गोस्वामी इनकी प्रकाशित हिंदी रचनाओं का ब्योरा देते हुए उनकी 49 रचनाएं बताते हैं और कहते हैं कि इन पूर्व प्रकाशित हिंदी-पंजाबी भजनों का संकलन 'भागवतपदी' नाम से बंबई से पुनः प्रकाशित कराया गया है। 1948 ई. से पूर्व प्रकाशित इन रचनाओं के प्रति ओम गोस्वामी लिखते हैं कि पंडित हरदत्त शर्मा भाषा को सांस्कृतिक माध्यम मानते थे और लोगों में स्वधर्म, स्वभाषा तथा सांस्कृतिक दाय के प्रति गौरव को जागृत करना चाहते थे। इनकी कविताओं का वर्ण्य विषय था- हिंदू समाज के पतन के प्रति चिंता, सनातन हिंदू संस्कृति के गौरवमय अतीत का वर्णन, आज के पतित समाज का चित्रण, समकालीन राजनीतिक उद्बोधन तथा गांधीवाद से प्रेरणा का चित्रण, पौराणिक प्रसंगों और अवतारवाद का चित्रण, भक्त और प्रभु-पंथ का चित्रण, भौतिक भोगवाद और मुक्ति का चित्रण, भारतीय नारी की स्थिति का चित्रण। इन्होंने हिंदू धर्म के कृत्यों के विषय में शास्त्र सम्मत टिप्पणियां करते हुए 'गंगाजल' नामक एक गद्य पुस्तक भी छपवाई थी। प्रो. सुभाष भारद्वाज ने पंडित हरदत्त की भाषा को सरल एवं प्रांजल माना है, उपदेशात्मकता के बावजूद उनमें आधुनिक चिंतन के बीज को स्वीकार करते हुए, सामाजिक पाखंडों और आडंबरों पर किए गए उनके तीखे व्यंग्य की भई चर्चा की है।

बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक से ही प्रो. पृथ्वीनाथ 'पुष्प' और स्व. दुर्गाप्रसाद काचुर कश्मीर में हिंदी साहित्य-सृजन का कार्य कर रहे थे। प्रो. पुष्प की प्रथम कविता 'दो दृश्य' 1937 ई. में 'प्रताप' (श्रीनगर) में प्रकाशित हुई थी, लेकिन स्व. दुर्गाप्रसाद काचुर की पांचवें दशक तक प्रकाशित रचनाओं का कोई विवरण नहीं मिलता। सत्यवती मल्लिक की प्रथम कविता 'अंतर में जो क्रीड़ा करते हैं', 'हंस' 1938 में प्रकाशित हुई। डॉ. गंगादत्त शात्री 'विनोद' की प्रथम हिंदी कविता साप्ताहिक 'दीपक' में 1940 ई. में प्रकाशित हुई। दीनू भाई पंत की हिंदी कविता 'जुगनू' और 'पथ पर दीप जलाने वाले' 1942 में 'उषा' (जम्मू) के अंकों में प्रकाशित हुई और 'दीवाली' कविता भी 'उषा' में ही 1944 में प्रकाशित हुई। चंद्रकांत जोशी की प्रथम कविता 'भारत भिखमंगों की दुनिया' लाहौर के 'विश्वबन्धु' में 1944 ई. में प्रकाशित हुई, जबकि प्रो. सुभाष भारद्वाज की

प्रथम कविता 'जनरव' लाहौर से प्रकाशित 'हिन्दी मिलाप' के 1945 ई. के किसी अंक में प्रकाशित हुई।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर प्रो. सुभाष भारद्वाज के कथन का अनुमोदन किया जा सकता है कि 1947 ई. से पहले की हिन्दी कवियों की कोई प्रकाशित काव्य-कृति (छोटी मोटी फुटकर रचनाओं को छोड़कर) उपलब्ध नहीं है। अतः जब मूल्यांकन का आधार ही नहीं तो कुछ कहना विवादास्पद होगा। हां, हिंदी साहित्य मंडल, जम्मू में जो रचनाएं पढ़ी जाती रहीं उनके प्रति प्रो. रामनाथ शास्त्री का कथन उद्धृत कर लेने से पांचवें दशक की हिन्दी कविता का मूल्यांकन हो सकता है। उनका कहना है- 'ये गोष्ठियां' (हिन्दी साहित्य मंडल, जम्मू की) जिनमें वस्तुतः नए लेखकों की बैठकें हुआ करती थीं, इनमें (पढ़ी जाने वाली) हर रचना हिन्दी-विरोध के दुर्ग की प्राचीर पर लगने वाला एक गोला है, या नहीं तथा उसमें भरा हुआ मसाला असली है या नहीं अथवा मसाला है ही नहीं। इन चीजों की परख पड़ताल करने की प्रथा अभी तक नहीं चली थी। आलोचक नाम का जीव अभी तक उस साधना-सरोवर में पैदा नहीं हुआ था। छंद मात्रा आदि का विवेचन हिन्दी परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में तो रहता था, लेकिन उस समय की तुकबंदियों में उनका अंकुश प्रायः नहीं माना जाता था। हिन्दी साहित्य मण्डल, जम्मू की गोष्ठियों में पढ़ी जाने वाली रचनाओं के विषय की परख-पड़ताल करते हुए प्रो. रामनाथ शास्त्री लिखते हैं कि 'मण्डल की गोष्ठियों में अधिकतर समाज-सुधार, आचार संहिता का विवेचन, देशानुराग, प्रकृति चित्रण और छायावादात्मक रहस्यवाद या रहस्यात्मक छायावाद आदि विषयों को चुनने का प्रोत्साहन दिया जाता था'।

प्रो. सुभाष भारद्वाज ने प्रो. शास्त्री के इस कथन की समीक्षा करते हुए लिखा है, 'उस समय स्वदेश प्रेम तथा आचार आदि विषयों और छायावादी ढंग की शृंगारिकता की प्रवृत्ति यहां पर अधिक थी। शंकुतला सेठ, सुशीला तुली आदि कवयित्रियों की रचनाओं में छायावादी, सुधारवादी तथा नारी उद्धार संबंधी भावनाओं की प्रमुखता है।' शंकर शर्मा 'पिपासु' की रचनाओं में छायावादी ढंग का अवसाद एवं उन्मुक्त शृंगारिकता की भावना प्रबल है। उन दिनों प्रकाशित वेदपाल 'दीप' की लंबी कविता 'शल्य' में असफल एकांगी प्रेम की झलक मिलती है। संभवतः दीप की इस लघु काव्य-पत्रिका को छोड़ नई शैली की किसी अन्य कवि की कृति प्रकाशित नहीं हुई।

भारतीय हिंदी साहित्य के इतिहास का अवलोकन करें, तो 1940 ई. के आसपास जब छायावाद के बाद उत्तरछायावदी कवित्रयी (बच्चन, अंचल, नरेन्द्र शर्मा) के काव्य का दौर चल रहा था और प्रगतिवादी अपनी त्रुटियों को पहचान नया मार्ग खोज रहा था तथा प्रयोगवाद प्रसव काल में था, तब जम्मू-कश्मीर में साहित्य-सृजन की पृष्ठभूमि तैयार हो रही थी। भाषा-प्रेम, देश-प्रेम, नारी-उद्धार, समाज-सुधार, नैतिक-उपदेश और धर्म तथा ईश्वर के प्रति परंपरागत सोच यहां की हिन्दी कविता में द्विवेदी युग की भाषागत सरलता, छायावाद की रहस्योत्सुकता तथा गोपन-चेतना, उत्तर छायावाद की मादकता, मांसलता और गीतात्मकता, प्रगतिवाद की शोषण विरुद्ध चेतना और भारतेन्दु-द्विवेदी युगीन हिन्दी-प्रेम, देश-प्रेम और समाज-सुधार की चेतना तथा नैतिक दृष्टि का घालमेल एक साथ मिल जाता है। अतः पांचवें दशक की जम्मू-कश्मीर की हिन्दी कविता का भाव बोध और शिल्प परंपरा से प्राप्त है।

पांचवें दशक तक जम्मू-कश्मीर में कविता लेखन को ही बल मिला, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि विधाएं उपेक्षित रहीं। मात्र सत्यवती मल्लिक की कहानी 'दो फूल' का 'विशाल भारत' (1935) में प्रकाशन हुआ। यह इनकी प्रथम प्रकाशित कहानी है। फिर प्रो. पृथ्वीनाथ 'पुष्प' की कहानी 'अहिंसा', 'प्रताप' (श्रीनगर) के 1937 ई. के अंक में प्रकाशित हुई। अतः पांचवां दशक जम्मू-कश्मीर के हिन्दी साहित्य में केवल कविता-सृजन का युग है। छठे दशक में प्रकाशित हिंदी साहित्य को साक्षी मानें तो 1950 ई. से पूर्व प्रकाशित हो रहे लेखकों- गंगादत्त

शास्त्री 'विनोद', चंद्रकांत जोशी, सुभाष भारद्वाज की रचनाओं के प्रकाशन की सूचना अन्तःसाक्ष्यों में मिलती है। शंकर शर्मा 'पिपासु', बंसीलाल सूरी, धर्मचंद प्रशांत, कु. राज तुल्ली (भल्ला), कु. सुशीला तुल्ली, कु. शकंतुला सेठ, कु. कृष्णा गुप्ता यद्यपि 1940-42 ई. के आसपास में साहित्य सृजन कर रहे थे, लेकिन छठे दशक में इनकी मात्र एक-एक, दो-दो प्रकाशित रचनाएं ही मिलती हैं। ये सभी लेखक रेडियो-प्रोग्राम या छोटे-मोटे कवि-सम्मेलनों में कविता पढ़ कर ही संतुष्ट हो जाते रहे।

छठे दशक तक पहुंचते-पहुंचते जम्मू-कश्मीर में मात्र 'भारती' और सरकारी पत्रिका 'योजना' का ही प्रकाशन हो रहा था। तात्पर्य यह है कि लेखकों के पास प्रकाशन की कोई विशेष सुविधा नहीं थीं। जम्मू में स्वतंत्रता के बाद 1961 ई. तक कोई साहित्यिक संस्था भी नहीं रह गई थी, जिसकी गोष्ठियों में रचना पढ़-सुन कर लेखक नव सृजन के लिए प्रेरित होते, किन्हीं कारणों से हिंदी के कुछ प्रतिभावान लेखक डोगरी भाषा-साहित्य की उन्नति के कार्य में जुट गए थे। छठे दशक तक पहुंचते-पहुंचते चौथे, पांचवें दशक तक के हिंदी प्रेम का ज्वार नीचे उतर कर अब अत्यंत धीमा पड़ गया था, कुछ इने-गिने हिंदी लेखक ही छठे दशक में लिखने वाले रह गए थे, जबकि नए लेखक उभर नहीं रहे थे।

कश्मीर के हिंदी लेखकों की स्थिति भी लगभग ऐसी ही है, यद्यपि श्रीनगर में 'अभिनव हिंदी लेखक मंडल' की स्थापना हो चुकी थी। जम्मू और कश्मीर रियासत के दोनों संभागों में इस दशक के अंत तक कुछेक सुविधा संपन्न लेखकों की ही स्वतंत्र पुस्तकें प्रकाशित हुई। लेकिन विडबंना यह है कि ये पुस्तकें फिलहाल अनुपलब्ध हैं। पुस्तकों की सूची मात्र से ही तसल्ली करनी पड़ रही है। 16 पुस्तकों में से मात्र 'तांडव' नामक पुस्तक ही उपलब्ध है। सत्यवती मल्लिक शुरू से ही दिल्ली में 'हिंदी भवन' के संचालन के कार्य में लगी रही, इनकी दो-तीन कहानियां ही 'शीराज' पत्रिका में प्रकाशित हुई। लगभग यही स्थिति मोहनकृष्ण धर की है।

जम्मू-कश्मीर में हिंदी साहित्य के प्रोत्साहन के क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण है 'जम्मू-कश्मीर अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एंड लैंग्वेज' की स्थापना। प्रदेश की कला, संस्कृति और भाषाओं के विकास के लिए अगस्त 1958 में इसकी स्थापना हुई, जिसने राज्य में हिंदी-साहित्य के विकास में विशेष योगदान दिया है। अकादमी प्रदेश में साहित्यिक गोष्ठियों और कवि सम्मेलनों का आयोजन करती रही है। रजिस्टर्ड साहित्य संस्थाओं को अपने कार्यक्रमों के आयोजन के लिए आर्थिक अनुदान देने के अलावा लेखकों को पुस्तक प्रकाशनार्थ आर्थिक सहायता भी करती रही है। लेकिन छठे दशक में अकादमी के अनुदान या सहायता से किसी लेखक की स्वतंत्र पुस्तक नहीं छपी। हां इस दशक के अंतिम वर्ष में अकादमी ने प्रदेश के प्रतिनिधि गद्य-पद्य रचनाकारों के दो संकलन 'पद्यांजलि' और 'गद्यांजलि' शीर्षक से प्रकाशित किये। इन दोनों संकलनों में 1960 ई. तक लिखी गई रचनाओं में से कुछेक रचनाएं संकलित हैं, लेकिन हैं ये यहां के लेखन की बानगी मात्र ही।

'पद्यांजलि' में संभाग के प्रकाशित कवि हैं- गंगादत्त शास्त्री विनोद, चंद्रकांत जोशी, शंकर शर्मा 'पिपासु', प्रो. सुभाष भारद्वाज, यश शर्मा, श्याम दत्त 'पराग', शकुंतला सेठ, शांति गुप्ता, पद्मा 'दीप', सचदेवा आदि। कश्मीर संभाग के प्रकाशित कवियों में सत्यवती मल्लिक, पृथ्वीनाथ 'पुष्प', दुर्गाप्रसाद काचुर, पृथ्वीनाथ 'मधुप', मोहन (लाल) 'निराश', शशिशेखर तोषखानी, रत्नलाल (रैणा) शांत आदि हैं। 'गद्यांजलि' में जम्मू संभाग के प्रकाशित लेखकों में धर्मचंद 'प्रशांत', वेद राही (दोनों कहानीकार), गोपीनाथ कौशिक (एकांकीकार), शक्ति शर्मा (संस्मरणकार), रमाकांत भारद्वाज, विष्णुदत्त शास्त्री, प्रो. रामनाथ शास्त्री, शकुंतला सेठ (चारों समीक्षक-निबंधकार) आदि हैं। 'गद्यांजलि' में कश्मीर संभाग के प्रकाशित लेखकों में सत्यवती मल्लिक, मोहन कृष्ण, दीप (दीपक) कौल, हरिकृष्ण कौल, जवाहरलाल कौल, रत्नलाल शांत (सभी कहानीकार), घनश्याम सेठी (संस्मरणकार),

पृथ्वीनाथ 'पुष्प', चमन लाल सप्रु (दोनों समीक्षक-निबंधकार) हैं। इन कवियों-लेखकों के अलावा प्रदेश के एक महत्वपूर्ण लेखक मनसाराम शर्मा 'चंचल' जालंधर से प्रकाशित समाचार पत्र 'मिलाप' में कार्य करते हुए साहित्य-सृजन कर रहे थे, उनके अन्तः साक्ष्य के आधार पर कहा जा सकता है कि उनकी रचनाएं 'बाल गीत' और 'अश्रुमाला' इस दशक में प्रकाशित हो चुकी थीं, जो उपलब्ध नहीं, लेकिन इन संग्रहों की विशेषकर 'अश्रुमाल' की कुछ रचनाएं उनकी पुस्तक 'सुषमा' में सातवें दशक में पुनः प्रकाशित हुई। इन कवियों-लेखकों के अलावा जम्मू-कश्मीर में कुछ और भी हिंदी लेखक हो सकते हैं, लेकिन अब तक की प्रकाशित सामग्री में उनकी कहीं चर्चा नहीं हुई, न ही उनकी कोई रचना फिलहाल उपलब्ध है। छठे दशक के अन्त तक लद्दाख संभाग के किसी हिंदी लेखक का कोई ब्योरा नहीं है, न ही प्रकाशित साहित्य मिलता है। कुछ लेखकों के आत्मकथ्य से प्रतीत होता है कि उन्होंने छठे दशक में लेखन आरंभ किया था, लेकिन उनकी प्रकाशित सामग्री सातवें दशक या उसके बाद की ही मिलती है। इन लेखकों में देशबन्धु 'नूतन' (पांचवें दशक में लेखन शुरू), डॉ. ओम प्रकाश गुप्त (1952-53 ई. से लेखन आरंभ), पुष्कर नाथ (मूलतः उर्दू कहानीकार 1953 ई. से लेखन आरंभ), निर्मल 'विनोद' (प्रथम रचना 1957 में लिखी, 1962 में वास्तविक लेखन आरंभ) प्रमुख हैं। छठे दशक तक जम्मू-कश्मीर में अधिकतर लोग कविता विधा में साहित्य-सृजन करते रहे। लेकिन इस दशक के अंत तक प्रो. सुभाष भारद्वाज का ही स्वतंत्र संग्रह 'तांडव' प्रकाशित हो सका, जबकि अन्य लेखकों की फुटकर कविताएं ही 'पद्यांजलि' में उपलब्ध हैं। ये कविताएं आगे चलकर सातवें दशक या उसके बाद प्रकाशित स्वतंत्र संग्रहों में पुनः प्रकाशित हुई हैं। छठे दशक की प्रदेश की हिंदी कविता के स्वरूप को समझने के लिए हमें 'तांडव' और अन्य फुटकर कविताओं का ही सहारा लेना पड़ रहा है। इस दशक तक प्रकाशित तीन कविता संग्रहों का नाम गिनाया जा चुका है। यहां हम मात्र एक उपलब्ध कविता संग्रह 'तांडव' का मूल्यांकन कर रहे हैं।

'तांडव' की रचनाओं के समय कवि प्रगतिवाद का कट्टर अनुगामी था, जबकि इस समय प्रगतिवाद अंतिम चरण में था। पुस्तक प्रकाशन (1960) के समय तो प्रगतिवाद अतीत का विषय बन चुका था। इसी कारण 'तांडव' को प्रकाशित करने में कवि संकोच का अनुभव करता रहा। 'तांडव' की कविताओं में कवि सुभाष भारद्वाज बेकारी, भुखमरी, बदहाली से विवश जनसाधारण की पीड़ा, यंत्रणा, झुंझलाहट जन्य क्रोध का कविता में सहानुभूतिपूर्ण और करुणासिक्त संवेदना सहित संयोजन करता हुआ चित्रण करता है। इन कविताओं में कहीं वह लोगों की संघर्षहीनता, सहनशीलता आदि को झकझोरता है, कहीं उन पर व्यंग्य करता है और कहीं राजनेताओं और स्वार्थप्रेरित शोषक शक्तियों पर व्यंग्य करता है। कवि को लगता है कि इस प्रशासन तंत्र में साधारण आदमी की नियति है- आत्महत्या। इन कविताओं के कवि ने बड़े कारुणिक, राग-रंजित बिंब प्रस्तुत किए हैं। लेकिन कवि मानता है कि आम आदमी अपनी दयनीय स्थिति का कारण स्वयं ही है, क्योंकि उसमें वर्ग संघर्ष की चेतना जागृत नहीं हुई। अभी भी धर्म, कर्म, फल, ईश्वर और पूंजीवादी व्यवस्था के खिलाफ यदि कोई स्वर उठाता है तो उसे पागल कहकर दुत्कार दिया जाता है। प्रो. सुभाष भारद्वाज की कविता का केंद्रीय भाव यद्यपि प्रगतिवादी चेतना ही है। फिर भी उन्होंने प्रेम, शृंगार और रूपाकर्षण से संबंधित कुछ कविताएं भी लिखी हैं। इन वृत्तियों की अभिव्यक्ति उन्होंने गीतों और दोहों में की है। कहा जा सकता है कि प्रो. सुभाष भारद्वाज भारतीय जनजीवन की समस्याओं का चित्रण करते हैं। अशिक्षा, अंध-विश्वास और धर्म, विश्वासजन्य कुरीतियों पर चुटीले व्यंग्य करते हैं। उनकी प्रगतिशील जीवन-दृष्टि उनकी कविताओं का केंद्रीय भाव है। परंतु जन-जन के प्रति उनकी करुणा और सहानुभूति कहीं-कहीं भावावेश से ग्रस्त होकर कविता के विचार-पक्ष को निर्बल भी करती है और

काव्य-शिल्प को शिथिल भी कर देती है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि जम्मू-कश्मीर में हिंदी लेखन बीसवीं सदी से आरंभ हुआ और डोगरा शासन के साथ इसने जोर पकड़ा। डोगरा शासकों ने साहित्य से इतर धर्म और शास्त्र से जुड़ी हुई पांडुलिपियों को संग्रहित करवाया और उन पर काम करवाना शुरू किया। यह कार्य एक तरह से धार्मिक और राजनीतिक सौहार्द की नीति के अंतर्गत करवाया गया साथ ही जम्मू-कश्मीर में हिंदी लेखन से जुड़ी हुई जम्मू और श्रीनगर की साहित्य संस्थाओं का विकास हुआ। इसके साथ ही जम्मू और श्रीनगर तथा कुछ वर्षों बाद लेह में रेडियो स्टेशन खुलने से हिंदी साहित्य-सृजन को विशेष बल मिला। इससे पहले हिंदी साहित्य मंडल की साहित्यिक गोष्ठियों में भी कविता और अन्य विधाओं पर लेखन एवं चर्चा होती रही। परंतु कविता के क्षेत्र में छंद शास्त्र के बारे में ही टीका टिप्पणी होती रही। मुक्त विचारों, स्वच्छंद शैली तथा आत्म-अभिव्यक्ति को महत्व नहीं मिल पाया। परंपरागत चला आ रहा साहित्य बोध ही कवियों को प्रभावित करता रहा। उन पर आलोचना भी इसी दृष्टि से की गई। 1970 के दशक से जब बैंकों का निजीकरण हुआ और राजाओं की उपाधियां एवं भत्ते समाप्त हुए, तब एक नई सोच का विकास हुआ। जिसके अंतर्गत जन साधारण के सामाजिक, आर्थिक, और नैतिक मूल्यों की ओर कवियों का ध्यान गया और ये कविताओं का विषय बनने लगे। जम्मू-कश्मीर में 1970 के बाद लिखी गई कविता में कुछ हद तक इस नई सोच का और व्यक्तिगत रोजमर्रा की जिंदगी के अनुभवों का चित्रण होने लगा। जबकि 70 के दशक तक कहानी में प्रेमचंद आदि का ही दोहराव हो रहा है। सत्तर के बाद मोहन राकेश, कमलेश्वर और राजेंद्र यादव की त्रयी को जम्मू-कश्मीर के लेखकों ने पढ़ा और फिर नए अंदाज और नए विषयों पर लेखन हुआ। इसका असर कहानी से अधिक कविता में दिखा। यहां के अधिकांश लेखकों की भाषा कविता-मुखी रही।

1980-90 के समय को कहानी और कविता के लिए अच्छा समय कहा जा सकता है। इस दौरान प्रचुर मात्रा में अच्छा लेखन हुआ। यह रमेश मेहता, निर्मल विनोद, अशोक जेरथ, डॉ. राजकुमार, डॉ. रतनलाल शांत, हरिकृष्ण कौल, ज्योतीश्वर पथिक, सुतीक्षण कुमार आनंदम आदि लेखकों की सक्रिय रचनात्मकता का समय था। इस दौरान युवा हिंदी लेखक संघ की गोष्ठियों में आलोचक के रूप में डॉ. ओम प्रकाश गुप्त और डॉ. राजकुमार की उल्लेखनीय भूमिका रही। इन गोष्ठियों में अशोक कुमार, अरुण बजाज, शकुंत दीपमाला आदि ने भी भाग लेना प्रारंभ किया। इसी काल में राज्य के कथाकारों के दो कथा संग्रहों का संपादन भी डॉ. अशोक जेरथ और डॉ. राजकुमार ने किया। इसी दशक में ऊषा छवि व्यास अपनी खूबसूरत भाषा के कारण साहित्य के क्षेत्र में चर्चा में आई। इनके अलावा डॉ. ओम गोस्वामी, छत्रपाल भी हिंदी में अच्छी कहानियां लिख चुके थे। महाराज कृष्ण संतोषी, संजना कौल, क्षमा कौल, अग्निशेखर ने भी इसी दशक में सक्रिय लेखन की शुरुआत की।

नब्बे से वर्ष दो हजार तक कविता और कहानी में वही लोग लिखते रहे जो इससे पूर्व के दशक में सक्रिय थे। इनके अलावा अनिला सिंह चाड़क, चंचल डोगरा, महाराज कृष्ण भरत, प्रो. किरण बख्शी और पवन खजुरिया का नाम भी सक्रिय लेखकों में जुड़ गया। राजनीतिक और क्षेत्रीय उथल-पुथल के इस दौर में जम्मू की क्षेत्रीय अभिव्यक्ति साहित्य से नदारद रही। इस उथल-पुथल का प्रभाव लेखकों की रचनात्मक गुणवत्ता पर भी पड़ा। जबकि बाद के दशक में साहित्य को इसका लाभ मिला और विस्थापन पर प्रचुर मात्रा में साहित्य हिंदी क्षेत्र में आया। जम्मू के लेखकों ने भी लेखकीय सौहार्द निभाते हुए कश्मीर के लोगों के प्रति सहानुभूतिपरक रचनाएं साहित्य को दी। यद्यपि जम्मू की क्षेत्रीय अस्मिता की अभिव्यक्ति करती रचनाएं अब भी साहित्य में नजर नहीं आई थी।

वर्ष 2000 के बाद भूमंडलीकरण, विश्व बाजार

के प्रभाव के चलते कविता और कहानी में आर्थिक विषय छाए रहे। विमर्श का साहित्य भी इसी दशक में शुरू हुआ। उससे पहले भी जो लिखा गया वह एक लेखकीय दृष्टि से लिखा गया था जबकि अब यह एक राजनीतिक दृष्टिकोण से लिखा जाने लगा। विमर्शों के पीछे भी राजनीतिक सोच परिलक्षित होने लगी। लेखक भी अपने को केंद्र में लाने की होड़ में दिखे। परन्तु आतंकवाद को छोड़कर अन्य विषयों से जम्मू के लेखक अछूते रहे। कश्मीर पर लिखे गए साहित्य में भी सैलानी दृष्टि ही ज्यादा नजर आती है। दलित विमर्श की दृष्टि से तो साहित्य नहीं ही मिलता। जो कुछ एक-आध कहानियां लिखी भी गईं, वे भोगे हुए यथार्थ की बजाए ओढ़े हुए वाद की कहानियां अधिक लगती हैं। इनकी भाषा भी ओढी हुई प्रतीत होती है।

वर्ष 2000 के बाद का समय साहित्यिक संस्थाओं और सांस्कृतिक अकादमी की सक्रियता के लिए भी याद किया जाना चाहिए। इस दौरान अकादमी से निकलने वाली साहित्यिक पत्रिका 'शीराज' ने कई लेखकों को मंच प्रदान किया। एक संपादक के रूप में यह नीरू शर्मा के साहित्यिक अवदान का समय रहा। जबकि सेवामुक्त होने के बाद उन्होंने स्वयं भी सक्रिय लेखन शुरू किया। अपने पूर्ववर्तियों की तुलना में इस दौर का लेखन अधिक जीवंत और साहसी है। कविता और कहानी में अच्छा नाम कमा चुके लेखकों में क्रम से योगिता यादव, कमल जीत चौधरी, कृष्ण कुमार, संजीव भसीन, कुंवर शक्ति सिंह उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त अरुणा शर्मा, शेख मो. कल्याण, अशोक कुमार, शारदा साहनी आदि की रचनात्मकता भी वर्ष 2000 के बाद मुखर हुई। इस दौर के लेखन में शिल्प और संवेदना के धरातल पर नयापन दिखता है। इसमें स्त्री विमर्श से जुड़े प्रश्नों को संजना कौल, क्षमा कौल और योगिता यादव ने प्रखरता से उठाया है। मौजूदा पीढ़ी द्वारा लिखी जा रही रचनाओं को देखकर जम्मू-कश्मीर में हिंदी साहित्य के भविष्य के प्रति आश्वस्त हुआ जा सकता है।

जम्मू और कश्मीर में ही हिन्दी साहित्य सृजन हुआ, लद्दाख में नहीं। लद्दाख में हिन्दी को शास्त्री के कोर्स में ऐच्छिक विषय के रूप में ही पढ़ाया जा रहा है, संभवतः हिन्दी में पठन-पाठन न होने से साहित्य-सृजन भी नहीं के तुल्य ही है, इधर कुछ वर्षों से जम्मू-कश्मीर से हिन्दी के जानकार लद्दाख के विद्यालयों में अध्यापकों के रूप में हिन्दी पढ़ाने लगे हैं, जिसके कारण हिन्दी में साहित्य-सृजन को प्रेरित करने की आशा बढ़ने लगी है। लद्दाख में रेडियो भी हिन्दी साहित्य सृजन में कुछ भूमिका निभा सकता है। कहा जा सकता है कि समूचे जम्मू-कश्मीर और लद्दाख में हिन्दी साहित्य के सृजन के नये आयाम खुल रहे हैं जो हिन्दी साहित्य के भविष्य के प्रति आश्वस्त कर रहे हैं।

(भूतपूर्व प्रो. एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
जम्मू विश्वविद्यालय)
128 लाजपत नगर, गली नं.-1,
कनाल रोड, जम्मू-180001
मो. - 9419253447

●

रससिद्ध कवि-वैद्य लोलिम्बराज

गोपीनाथ पारीक 'गोपेश'

संस्कृत साहित्य की एक प्रसिद्ध उक्ति है - **एकं वस्तुं द्विधा कुर्त्तुं बहवःसन्ति धन्विनः। धन्वी मन्मथ एवैषः द्वयोरेक्यं करोति यः।।** अर्थात्- "ऐसे बहुत से धनुर्धारी हैं जो अपने धनुष से वस्तु के दो टुकड़े कर देते हैं किन्तु दो मनों को एकाकार कर देने वाला धनुर्धर (कुसुमायुध) तो कामदेव ही है।" कहते हैं कि कवि शेषमणि ने अपनी पगड़ी रंगने के लिए दी और पगड़ी के एक सिरे पर दोहे की एक पंक्ति भी लिख दी- **'कनक छरी सी कामिनी, काहे को कटि छीन।'** रंगरेज लड़की ने पगड़ी तो रंग कर दी ही, साथ में वह दोहा भी पूरा कर के बांध दिया- **'कटि को कंचन काटि विधि, कुचन मध्य धरि दीन।'** कवि ने जब वह दोहा पढ़ा तो वे बड़े विस्मित प्रसन्न हुये और उस रंगरेज लड़की के प्रेम में पड़ कर उससे विवाह ही कर लिया। कवि शेषमणि ने उस रंगरेज बाला से विवाह करने के लिए इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया और अपना नाम 'आलम' रख लिया। किन्तु कवि पातशाह नाम से विख्यात लोलिम्बराज इस प्रकार के प्रेमपाश में नहीं बंधे और एक मुस्लिम लड़की से विवाह कर लेने पर भी अपने हिन्दू धर्म को उन्होंने नहीं त्यागा। इनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर ही बीजापुर के तत्कालीन बादशाह इब्राहिम आदिलशाह द्वितीय (1580-1626 ई.) ने इन्हें अपनी सभा में स्थान देकर सम्मानित किया था। इनकी योग्यता और वाक्सिद्धि से बादशाह इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने खुश होकर अपनी बेटी इन्हें ब्याह दी। इस लड़की का नाम 'मुरासा' था, जिसका नाम लेलिम्बराज ने फिर 'रत्नकला' रख लिया।

लोलिम्बराज बड़े प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। उनकी यह प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। वे एक महान् आशुकवि और सिद्ध-हस्त चिकित्सक होने के साथ ही उच्च कोटि के संगीताचार्य भी थे। उनके द्वारा रचित कृतियों में उनकी यह बहुविध प्रतिभा परिलक्षित होती है। उनका तत्कालीन राजा महाराजाओं और शाहों बादशाहों के यहाँ अच्छा मान-सम्मान था। लोलिम्बराज की जन्मभूमि जुन्नर बताई जाती है जो महाराष्ट्र के पूना जिले में मुंबई और अहमदनगर तथा पूना और नासिक से बराबर दूरी पर स्थिति है। इनके पिता का नाम दिवाकर भट्ट था जो अत्यन्त आस्तिक और कर्मनिष्ठ महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। आप संस्कृत और मराठी साहित्य के अच्छे विद्वान थे। आपको वृद्धावस्था में सूर्याराधना से लोलिम्बराज ही इकलौती सन्तान प्राप्त हुई थी। इसलिये उनके लालन-पालन में आपने कोई कमी नहीं

रखी, परन्तु लोलिम्बराज के बाल्यकाल में ही वे परलोकगामी हो गये। इसी से लोलिम्बराज की शिक्षा-दीक्षा का भी समुचित प्रबन्ध नहीं हो सका। असहाय माता पढ़ने-लिखने का प्रबन्ध नहीं कर सकी और फिर पुत्रमोह इतना कि वह पुत्र को शिक्षा के लिए अन्यत्र भेजकर उससे पृथक् नहीं रह सकती थी। इन्हीं कारणों से शिक्षा के अभाव में वे उदण्ड होते गये। ग्रामवासी उनकी उदण्डता के विषय में माता को आकर उल्हाना देते रहते थे, यहां तक कि उनके समवयस्क साथी उन्हें 'मूर्ख' तक कह कर चिढ़ाने लगे। जब वे युवा हुये तो उन्हें अपनी मूर्खता का एहसास हुआ और वे अपनी अज्ञता पर पश्चाताप करने लगे। आखिर एक दिन वे चुपचाप अकेले ही घर से निकल गये। जुन्नर से आप सीधे सप्तशृंगी देवी के मन्दिर की ओर चले जो नासिक जिले में सप्तशृंग पर्वत पर स्थित है। वहाँ जाकर वे अपनी परमनिष्ठा और भक्ति के साथ देवी की आराधना में संलग्न हो गये। कहते हैं माता भगवती उनकी साहसपूर्ण भक्ति से प्रसन्न हो गई और साक्षात् प्रकट होकर वाक्सिद्धि, धी, धृति, स्मृति और श्री की प्राप्ति का वरदान देकर अन्तर्ध्यान हो गईं। नवीन आलोक से प्रकाशमान होकर लोलिम्बराज प्रसन्न होते हुए अपने गाँव जुन्नर लौट आये।

इस वर प्राप्ति के फलस्वरूप लोलिम्बराज को वाक्सिद्धि प्राप्त हो गई थी, वे जो बात कह देते थे वह प्रायः सत्य होती थी। धीरे-धीरे उनकी कीर्ति चारों ओर फैलने लगी और राजा महाराजाओं के यहाँ पर भी उनका सम्मान होने लगा। इस समय दक्षिण में बीजापुर (अभी कर्नाटक का एक जिला) का सुल्तान सबसे अधिक शक्तिशाली माना जाता था। सुल्तान इब्राहिम आदिलशाह द्वितीय को जब इन लोलिम्बराज के विषय में जानकारी मिली तो उसने शाही पालकी भेज कर उन्हें आदरपूर्वक अपने दरबार में बुलाया और प्रश्न किया कि - 'मेरी बेगम गर्भिणी है, बताओ उसको क्या होगा?' आपने निर्भय होकर उत्तर दिया कि - 'यदि मेरी बात सच निकली तो आपको अपनी पुत्री मुझे ब्याहनी होगी।' बादशाह ने जब यह बात स्वीकार कर ली तब आपने कहा कि 'बेगम साहिबा को पुत्र होगा।' कुछ समय बाद लोलिम्बराज का वचन सत्य हुआ और बादशाह ने खुश होकर अपनी पुत्री जिसका नाम 'मुरासा' था लोलिम्बराज को अर्पण कर दी। लोलिम्बराज ने बड़े गर्व के साथ उससे शादी कर ली और उसका नाम 'रत्नकला' रखा। इन सब बातों का आभास उनके रचित ग्रन्थों के कई पद्यों से मिलता है। बीजापुर के सुल्तान ने इन्हें प्रसन्न होकर अपनी बेटी ही नहीं दी अपितु इनकी विद्वत्ता और काव्यकौशल से प्रभावित होकर 'कवि-पातशाह' की पदवी भी दी, जिसका उल्लेख उन्होंने अपने काव्यग्रन्थों में किया है। अपनी 'वैद्यावतंस' नामक कृति के प्रारम्भ में आपने स्वयं के लिये 'कविकुलसुलतानो लाललोलिम्बराजः' और अन्त में 'लोलिम्बराजः कविपातशाह' लिखा है।

वे साहित्य और संगीत के मर्मज्ञ विद्वान् होने के साथ ही आयुर्वेद के भी उद्भट मनीषी थे। उनके द्वारा लिखे ग्रन्थों से उनकी बहुमुखी प्रतिभा परिलक्षित होती है। विद्वानों का मत है कि इनके पिता वैद्य थे और देवी से वर प्राप्त कर लेने के पश्चात् इन्होंने अपने पिता के व्यवसाय को ही पुनः प्रारम्भ करने के लिये आयुर्वेद का पूर्ण अध्ययन किया था। आयुर्वेद की प्रमुख ग्रन्थत्रयी चरकसंहिता, सुश्रुत संहिता और अष्टांगहृदय का आपने भलीभांति अध्ययन किया और फिर आचार्य वाग्भट लिखित अष्टांगसंग्रह और अष्टांगहृदय का गहन अध्ययन किया। उनका कथन है -'वाग्भटस्य मतमस्ति समस्तं सुश्रुतस्य चरकस्य च किंचित्।'

कविकुलसुलतान लोलिम्बराज कविताकामिनी के अप्रतिम प्रेमी थे, संगीत विद्या के अद्वितीय आचार्य थे और आयुर्वेदशास्त्र के धन्वन्तरि तुल्य सुयोग्य चिकित्सक थे। जिस प्रकार आचार्य वाग्भट

ने अष्टांगहृदय में वैद्यकशास्त्र को साहित्यिक रूप देने का प्रयास किया आपने भी उसी कार्य को अधिक बढ़ाया। आपकी शृंगारप्रियता और रचना-चातुर्य से प्रत्येक अध्येता अत्यधिक प्रभावित हुआ। आपकी इस साहित्यसमन्वित शैली का श्रीकृष्णराम भट्ट, जयदेवशास्त्री, हरिशास्त्री आदि आयुर्वेदज्ञों ने अपने-अपने ग्रन्थों में अनुसरण कर राजस्थान का नाम ऊँचा किया है।

लोलिम्बराज की जन्मतिथि के विषय में कोई सही निर्णय नहीं हो पाया है। विज्ञजनों का मानना है कि लगभग 1600 ई. में ये जुन्नर छोड़ कर तपस्या के लिये गये थे। इस समय इनकी अवस्था लगभग 30 वर्ष की तो रही ही होगी। इससे यह कहा जा सकता है कि इनका जन्म लगभग 1570 या इसके आसपास हुआ होगा। बीजापुर के बादशाह इब्राहिम आदिलशाह द्वितीय का कार्यकाल 1580 से 1626 ई. है और इसकी सभा के ये रत्न थे। लगभग 1601 में इस बादशाह ने अपनी पुत्री के साथ इनका विवाह किया होगा। कुछ शोधकर्ताओं का कथन है कि इब्राहिम आदिलशाह के पुत्र मुहम्मद शाह के भी ये राजवैद्य थे, जिसका कार्यकाल 1626 से 1656 ई. रहा। यदि ऐसा हुआ तो इनका जन्मकाल 30 वर्ष पीछे आ जाता है। आयुर्वेद महासम्मेलन पत्रिका के अप्रेल 1940 के अंक में प्रकाशित श्री कृ.ब. रिसवुड़ बिठुर (कानपुर) के आलेख से यह सारी जानकारी गई है।

लोलिम्बराज द्वारा लिखे गये ग्रन्थों के अन्वेषण का महत्वपूर्ण कार्य डॉ. ब्रह्मानन्द त्रिपाठी (वाराणसी) ने किया। पहले इनका लिखा हुआ केवल 'वैद्य जीवन' ही मिलता था किन्तु त्रिपाठी जी ने विभिन्न स्थानों से इनके पांच अन्य ग्रन्थों को भी प्राप्त कर संपादित कर प्रकाशित करवाया। इस प्रकार इनके लिखे हुए कुल 6 ग्रन्थ हैं, जिनमें दो मराठी भाषा में लिखे हुए हैं शेष चार संस्कृत भाषा में लिखे हुये हैं। इनमें प्रथम ग्रन्थ 'वैद्यावतंस' है जो एक 172 पद्यात्मक लघु निघण्टु है। निघण्टु का साधारण अर्थ कोष समझा जाता है किन्तु आयुर्वेद के निघण्टु ग्रन्थों में औषध द्रव्य और आहार द्रव्यों के गुणधर्म वर्णित होते हैं। द्वितीय रचना का नाम 'चमत्कार चिन्तामणि' है, जो पाँच विलास (खण्डों) में वर्णित है। इसमें कई चमत्कारपूर्ण औषध योगों का वर्णन है। इनका तीसरा काव्यमय प्रयोगग्रन्थ 'वैद्य जीवन' है, जो वस्तुतः वैद्यों का जीवन है। इनकी यह रचना सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इसके कई पद्य वैद्यों की जबान पर हैं। इसमें लिखे कई योग वैद्यलोग अपनी चिकित्सा में प्रयुक्त करते हैं। यह ग्रन्थ रसिक कवि ने अपनी प्रियतमा रत्नकला को सम्बोधित कर लिखा है। अपनी प्राणप्रिया रत्नकला को इस 'वैद्यजीवन' में उसी प्रकार सुललित और मोहक सम्बोधनों से सम्बोधित किया गया है, जिस प्रकार कालिदास ने श्रुतबोध में अपनी प्रियतमा को किया है। इनकी रसिकता और रचना चातुर्य 'वैद्यजीवन' में पदे-पदे परिलक्षित होती है। इनके इस 'वैद्यजीवन' को पढ़ने से काव्य का आनन्द भी पूरा-पूरा मिलता है और वैद्यक का ज्ञान भी होता है। अतिगहन, नीरस और दुर्बोध्य समझने वाले विषय को भी आपने सुललित और शृंगारमयी आलंकारिक भाषा में वर्णित कर इसे सरस और सुबोध बना दिया है। कवि ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही कह देता है कि - 'जिन पुरुषों का चित्त न तो कभी स्त्रियों में लगा हो और न कभी साहित्य रूपी अमृत के समुद्र में ही लगा हो वे भला मेरे इस परिश्रम को क्या जान पायेंगे।'

'वैद्यजीवन' पांच विलासों में वर्णित है। प्रथम विलास (खण्ड) में 73 श्लोकों में ज्वर चिकित्सा का वर्णन किया गया है। दूसरे विलास में 26 श्लोक हैं, जिनमें अतिसार-ग्रहणी आदि का वर्णन है। तीसरे विलास में कुल 39 श्लोक हैं, इन श्लोकों में अधिकतर में स्त्री रोगों का वर्णन किया गया है। शेष रोगों की चिकित्सा के सरल योगों का वर्णन चतुर्थ विलास में वर्णित है। अन्तिम पाँचवें विलास में कुल

21 श्लोक हैं, इन श्लोकों में वीर्यवर्धक (वृष्य) योगों के अतिरिक्त कुछ रसौषधियों का उल्लेख किया गया है। अन्तिम श्लोक में जिस प्रभावपूर्ण उक्ति का सहारा लिया गया है, वह ध्यान देने योग्य है --

नारायणं भजत रे जठरेण युक्ताः
नारायणं भजत रे पवनने युक्ताः
नारायणं भजत रे भवभीति युक्ताः
नारायणात्परतरं न हि किञ्चिदास्ति।।

- अर्थात् 'हे उदर रोगों से युक्त मनुष्यो! आप इस रोग को दूर करने के लिए आयुर्वेद शास्त्रों में वर्णित नारायण नामक चूर्ण का सेवन करो। हे वात रोग से पीड़ित लोगो! आप नारायणतैल को उपयोग में लाकर अपना रोग दूर करो। त्रिविधताप तथा रोगादि के दुःख से भयभीत हुये मनुष्यो! आप भगवान नारायण को भजो, क्योंकि नारायण से बढ़कर अन्य कुछ श्रेष्ठ नहीं हैं।' स्वस्थ व्यक्ति और रोगी दोनों के लिये ही पथ्य (उचित खान-पान एवं रहन-सहन) का बड़ा महत्व है। यदि मनुष्य सदा पथ्यसेवन पर ध्यान देता रहे तो दोनों ही स्थितियों में औषध की आवश्यकता नहीं रहती। इस बात को कवि देखिये कैसे शब्दों में प्रस्तुत करता है--

पथ्ये सति गदार्त्तस्य किमौषधनिषेवणैः।
पथ्येऽसति गदार्त्तस्य किमौषधनिषेवणैः।।

चिकित्सा के अधिकारी चिकित्सक को कैसा होना चाहिए, इसके लिए कवि कहता है --

गुरोरधीताखिलवैद्यविद्यः
पीयूषपाणिः कुशलः क्रियासु।
गतस्पृहो धैर्यधरः कृपालुः
शुद्धोऽधिकारी भिषगीदृशःस्यात्।।

- 'गुरु के पास जो जिसने सम्पूर्ण वैद्य-विद्या का अध्ययन किया है, जो पीयूषपाणि है (अधिकतर रोगियों को नीरोग करने का जिसके हाथ में यश होता है, उसे पीयूषपाणि कहा जाता है), जो चिकित्सा-कर्म में प्रवीण है, जिसमें निर्धनों से धन प्राप्ति की अभिलाषा नहीं है, जो स्वयं धैर्यवान् और रोगियों को भी धैर्य दिलाने वाला है तथा जो दयालु व पवित्र अन्तःकरण वाला है, ऐसा चिकित्सक चिकित्सा करने का अधिकारी होता है।' अर्थात् 'चिकित्सक, पहले निदान विधि के अनुसार रोग का निर्णय करके, इसके बाद रोग के साध्य होने का निश्चय करे और इसके पश्चात् ही अपनी चिकित्सा प्रारम्भ करे'।

आदौ निदानविधिना विदध्याद् व्याधिनिश्चयम्।
ततः साध्यं परीक्षेत पश्चाद् भिषगुपाचरेत।।

असाध्य रोगी की चिकित्सा से चिकित्सक को अपयश मिलने की संभावना रहती है, फिर भी परिजनों का आग्रह हो तो 'प्रत्याख्याय समाचरेत्' का आश्रय से प्रयास करे।

'वैद्यजीवन' के पांचों खण्डों को कवि ने विलास नाम दिया है। स्त्रियों के शृंगार से उत्पन्न हाव-भाव की क्रियायें विलास कहलाती हैं। इन खण्डों में अपनी प्रिया पत्नी के हाव-भावों को व्यक्त करते हुए और तद्नुरूप रूप-यौवन पूर्ण सम्बोधनों को व्यक्त करते हुए लोलिम्बराज ने अपनी प्रियतमा को संबोधित कर औषध-प्रयोगों का वर्णन किया है। प्रायः प्रत्येक छन्द में मधुरचारिणी, नितम्बिनी, काममदालसे, कोमलकण्ठि, अरविन्दवन्द्यनयने, तन्वंगी, अखण्डितशरत्काल-कलानिधि समानने, हेमकलश-स्तनि, विलासदृष्टे, धृतकामकले, कोकिल-कोमलस्वरे, ताम्बूलशालिवदने, रत्नज्वलन्मेखले, प्रमदारूप-मदापहारिणी, पीयूषमधुराधरे, कृशोदरि, महिलाग्रगण्ये, मनोज्ञकुण्डले, चारुचिकुरे, कन्दर्पवर्द्धिनि आदि जैसे विलासपूर्ण सम्बोधनों को उपयोग में लाया गया है। केवल एक स्थान (1-11) पर मुरासा (पूर्वनाम) का उल्लेख किया गया है और 2-73, 3-4, 3-9, 4-5, 4-32 श्लोकों में रत्नकला नाम का ही उल्लेख किया गया है। अनेक सरस सम्बोधनों के साथ एक औषधि के प्रयोग का साहित्यिक वर्णन देखिये -

मृगमदविलासल्ललाटमध्ये!
मृगमदहारिणी! लोचनद्वयेन।

मृगनृपतितनूदरश्रि!
पित्तज्वरमहहद्यति रैणवःकषायः।।

- हे अपने दोनों नेत्रों से मृगों के नेत्रचांचल्यरूप मद को हरने वाली तथा अपने ललाट के मध्यभाग में कस्तूरी के तिलक को धारण करने वाली एवं सिंह के समान पतले उदर वाली प्रिये! केवल एक पित्तपापड़े का ही क्वाथ पित्तज्वर का नाश करता है, यह कितने आश्चर्य की बात है।

अयि नितम्बिनी! गायनलालसे!
मधुरचारिणी! काममदालसे!
हरति दाहमधर्मकराननें!
हिमहिमांशुजलैरनुलेपनम्।।

- हे पीन नितम्बों वाली, गाने की शौकीन, गजगामिनी, काम के मद के कारण आलस्यवाली चन्द्रमुखी! सफेद चन्दन और कपूर को जल के साथ पीसकर शरीर पर अनुलेपन करने से पित्तज्वर से उत्पन्न अथवा अन्य कारणों से उत्पन्न शरीर की जलन दूर होती है। इन दोनों योगों के द्वारा आभ्यन्तर और बाह्य प्रयोग में लायी जाने वाली दोनों प्रकार की औषधियों का उल्लेख किया गया है। इस लघुग्रन्थ में बहुत से ऐसे सामान्य प्रयोगों का वर्णन किया गया है जो सुलभ एवं सरल हैं।

कुक्षिशूलामशूलघ्नं विविधास्त्रातिसारजित्।
सेवेत सगुडं बिल्वं बिल्व तुल्यपयोधरे।।

- हे विल्व के समान कुचोंवाली! कुक्षिशूल और आमशूल को तथा अनेक प्रकार के रक्तातिसार को नष्ट करने वाले कच्चे बेल के फल का चूर्ण गुड़ के साथ सेवन करना चाहिए।

शृंङ्गवेररसो येन मधुनासह सेवितः
श्वासकासभयं तस्य न कदाचित् कृशोदरि।।

- हे कृशोदरि! अदरख का रस मधु के साथ जिसने सेवन किया उसे श्वास और खांसी का डर नहीं है।

अये! मनोज्ञकुण्डले! स्फुरन्मुखेन्दुमण्डले।
गवांपयः सनागरं निहन्ति कामलाभरम्।।

- हे सुन्दर कर्णाभरणों वाली! हे देदीप्यमान चन्द्रमण्डल समान मुखवाली! सोंठ के चूर्ण के साथ गोमूत्र पीने से बढ़ा हुआ पीलियारोग भी नष्ट होता है।

समधुश्छिन्नास्वरसो नानामेहनिवारणः।
वदन्ति भिषजः सर्वे शरदिन्दुनिभानने।।

- हे शरद् ऋतु के चन्द्रमा के समान सुन्दर मुखवाली! शहद के सहित गिलोय का रस अनेक प्रकार के प्रमेहों को नष्ट करता है, ऐसा सब वैद्य लोग जानते हैं।

आयुर्वेद में वर्णित है कि शरीर में होने वाले वात रोग 80 प्रकार के, पित्त रोग 40 प्रकार के और कफ-जन्य रोग 20 प्रकार के होते हैं। इन रोगों के लिये सामान्य औषध योग लोलिम्बराज ने ये कहे हैं -- तुलसी पत्र स्वरस में काली मिर्च का चूर्ण और घी मिलाकर सेवन करने से वात रोगों का शमन होता है, गिलोय के काढ़े में मिश्री मिलाकर सेवन करने से पित्त रोगों का शमन होता है तथा गिलोय के काढ़े में शहद मिला कर सेवन करने से कफ से होने वाले रोगों का शमन होता है। सेवन करने से पूर्व मात्रा आदि के विषय में किसी सुयोग्य आयुर्वेद चिकित्सक से परामर्श लेना उपयुक्त है। लवंगादिवटी, लशुनादिवटी, चिन्तामणिचूर्ण, लोलिम्बराजचूर्ण, विश्वतापहरणरस, कनकसुन्दररस आदि औषध प्रयोग ऐसे हैं जिन्हें वैद्य लोग अधिकाधिक तैयार कर उपयोग में लाते हैं।

वस्तुतः लोलिम्बराज की ख्याति उनके 'वैद्यजीवन' नामक औषध योगों वाले काव्यपरक लघु ग्रन्थ से ही हुई है, और यही वैद्य समाज में विशेष रूप से प्रचलित है अतः इसकी अधिक विवेचना अपेक्षित थी। पूर्व में उल्लिखित तीन संस्कृत काव्यमय ग्रन्थों के अतिरिक्त चौथा संस्कृत भाषा में निबद्ध ग्रन्थ है--'हिरविलासकाव्य'। इसमें प्रथम सर्ग में भगवान कृष्ण की बालक्रीड़ा, दूसरे सर्ग में रासक्रीड़ा, तीसरे सर्ग में ऋतुवर्णन, चतुर्थ में भगवद्वर्णन और अन्तिम पञ्चम में कंसवध का

रसपूर्ण छन्दों में वर्णन किया गया है। कहा जाता है - जैसे भवभूति को शिखरिणी छन्द, भारवी को वंशस्थ छन्द पसन्द है वैसे लोलिम्बराज को मालिनी छन्द अधिक पसन्द है।

भवभूतेः शिखरिणी वंशस्थ भारवेर्यथा।
तथा विराजते चास्य मालिनी कीर्तिशालिनी।।

मालिनी छन्द में दो नगण, एक मगण और दो मगण होते हैं। इनके द्वारा रचे दो अन्य ग्रन्थ 'रत्नकलाचरित' और 'वैद्यककाव्य' मराठी भाषा में निबद्ध हैं। इनके विषय में डॉ. ब्रह्मानन्द त्रिपाठी ने उपयुक्त ही कहा है--

राजन्ते रचना अन्याः शास्त्रकाव्यकलेवराः।
चिकित्सावर्णनव्याजात् काव्यं यासु विजृम्भितम्।।

'कीर्तिर्यस्य स जीवति' अर्थात् जिसकी कीर्ति इस संसार में रहती है वह मर कर भी जीवित कहलाता है। जब तक साहित्य अनुरागी चिकित्सक समाज इस धरा पर विद्यमान जब तक रहेगा तब तक इस रससिद्ध वैद्य-कवि लोलिम्बराज की यह प्रशस्ति गाता रहेगा--

सरसवचनगुम्फो दातृताकल्पवृक्षो
विजितकविकदम्बो डाकिनीभीतिभेत्ता।
त्रिदशासदसि वाच्यो रोगिणां रोगहन्ता
जयति धरणिपीठे लाललोलिम्बराजः।।

(अध्यक्ष, राजस्थान आयुर्वेद विज्ञान परिषद)
21 रामेश्वरधाम, मुरलीपुरा स्कीम
जयपुर -302039
मो. 09214883175

आनन्द की खोज

भगवान सत्, चित् व आनंद रूप हैं। वह सच्चिदानन्द हैं। इन तीनों से जुड़ा रहना– इसी का नाम भक्ति है। भक्त निरभिमान है– वह 'है', (सत्), वह होता रहता है– निरंतर विकास करता है, वह प्रकाशस्वरूप है, ज्ञान स्वरूप है, चेतन है यानी 'चित्', पर, इनकी यानी सत् व चित् की सार्थकता आनंद की ओर यात्रा करने में है।

यह आनन्द कभी हमें सुख बन मिलता है, कभी खाने-पीने में, कभी खेल-कूद में, कभी गाने बजाने में, कभी मोद, प्रमोद, विनोद में– पर, अंत में लगता है– अभी सही रूप में वह नहीं मिला।

कभी लगता है – दुख के भीतर आनंद की तलाश करो। अपना दुख भूल जाओ, दूसरे के दुख को अपना बनाओ। यहाँ सुख की झलक मिलती है। यह सेवा बन जाती है। बुद्ध इसीलिए दुख को प्रथम आर्य सत्य मान कर चले।

'सुख क्या है, दुख को आगे बढ़ लेना ही।' यहाँ हम 'यशोधरा' के स्वर में कहेंगे –

'मेरे दुख में भरा विश्व सुख
क्यों न करूँ फिर मैं हामी।'

बाद में लगेगा आनंद– न बाहर है, न पाने में है, न लाभ में है – वह तो भीतर है – वस्तु से दूर- अपने में पूर्ण भीतर छलक रहा है–

कहाँ ढूंढता है– वह तो है तेरे भीतर।

'काहे री नलिनी! तू कुम्हिलानी, तेरे ही नाल सरोवर पानी।'

अरी कमलिनी! तू क्यों मुरझा रही है, देख – तेरे ही पास आनन्द का सरोवर लहरा रह है

आचार्य शुक्ल की समीक्षा दृष्टि

डॉ. किशोरीलाल व्यास

ड्राइडन : डॉ. जॉनसन और आचार्य शुक्ल

ड्राइडन और डॉ. जॉनसन नव्यशास्त्रवादी धारा के दो महान कलाकार एवं समर्थ चिंतक थे। दोनों ही कवि थे, मौलिक सिद्धान्तों के अन्वेषक थे और समर्थ आलोचक थे। दोनों ने परम्परा से चले आ रहे महाकाव्य एवं नाटक सम्बन्धी सिद्धान्तों की अवहेलना की और अपने पूर्ववर्ती कवियों की गहन आलोचना प्रस्तुत कर अंग्रेजी समीक्षा-शास्त्र में नये आयामों का उद्‍घाटन किया।

ड्राइडन अपने युग के जागरूक कलाकार थे। वे इंग्लैंड की तत्कालीन राजनीति में भी बढ़चढ़ कर भाग लेते थे। ड्राइडन समर्थ कवि, नाटककार एवं आलोचक थे। आलोचक के रूप में प्राचीन विचारकों का सम्मान करते हुए भी एक स्वतन्त्रचेता कलाकार की तरह उन्होंने नवीन उद्‍भावनाएं की। उन्होंने राष्ट्रीय तत्वों के आधार पर आलोचना के मानदण्डों की स्थापना की और साहित्य को राष्ट्र के बौद्धिक जीवन का सार माना ! उन्होंने अंग्रेजी में ऐतिहासिक-जीवनचरितात्मक आलोचना पद्धति का सूत्रपात किया। डॉ. सेम्युअल जॉनसन अपने युग के अत्यंत प्रतिभाशाली कवि, आलोचक, कोशकार (लेक्सिकोग्राफर) एवं जीवनी-लेखक थे। डॉ. जॉनसन ने ड्राइडन द्वारा बताये गये मार्ग को प्रशस्त कर 'ऐतिहासिक-जीवनचरितात्मक' आलोचना प्रणाली का विकास किया, उनकी पुस्तकें -- 'लाइव्स ऑफ पोएट्स', 'प्रेफेस टु शेक्सपीयर', 'लाइफ ऑफ मिल्टन', 'ड्राइडन', 'पोप' आदि इस बात को सूचित करती हैं। डॉ. जॉनसन ने सामान्य मनोभावों के चित्रण, नैतिकता, काव्य-सत्य आदि बातों पर विशेष बल दिया। उन्होंने निर्णयात्मक आलोचना द्वारा शेक्सपीयर को अंग्रेजी साहित्य के सर्वोच्च आसन पर उसी प्रकार आसीन किया जैसे शुक्ल जी ने हिन्दी साहित्य में तुलसी को।

ड्राइडन तथा डॉ. जॉनसन के समीक्षा-सिद्धान्तों की अपेक्षा उनकी निरूपणशैली से शुक्ल प्रभावित प्रतीत होते हैं। दोनों ही अंग्रेजी समीक्षक, समीक्षार्थ प्रस्तुत कृति को उसके ऐतिहासिक-सामाजिक संदर्भों में देखने के हिमायती हैं। किसी भी कवि का सही मूल्यांकन करने के लिये हमें अपने आप को उसके काल में ले जाना होगा।[1] शुक्ल जी ने भी अपने इतिहास एवं कुछ लम्बी आलोचनाओं (तुलसी, जायसी, सूर) में इसी पद्धति को अपनाया

है। डॉ. जॉनसन ने उन सामान्य मनोभावों के चित्रण को महत्वपूर्ण माना है जो किसी भी व्यक्ति के आलंबन हो सकते हैं-- इसी कारण ऐसा साहित्य किसी भी देश-काल में आनंद प्रदान कर सकता है।[2] सामान्यतया एवं यथार्थता, साहित्य के ये दो आवश्यक गुण हैं जो परस्पर एक-दूसरे पर आश्रित हैं।[3]

आचार्य शुक्ल भी 'साधारणीकरण' में इसी सामान्यीकरण की चर्चा करते हैं। जब तक कवि सामान्य भावों को इस रूप में प्रस्तुत नहीं करता कि उसकी अनुभूति सभी के हृदय में समान रूप से हो, तब तक साधारणीकरण असंभव है। अतः साधारणीकरण के लिये भी सामान्यता एवं यथार्थता आवश्यक ठहराते हैं।[4] डॉ. जॉनसन ने जिसे सामान्य भाव (जनरल) कहा, उसी को शुक्ल स्थायी भाव कहते हैं-- "जो मानव मात्र के मन में वासना रूप में निहित होते हैं। भारतीय रस सिद्धान्त के अनुसार भी काव्य के प्रमुख उपादान ये ही हैं। काव्य इन्हीं सामान्य भावों को जाग्रत करने की क्षमता रखता है। इन्हीं भावों के सूत्र से मनुष्य जाति जगत् के साथ तादात्म्य का अनुभव चिरकाल से करती चली आई है।"[5] सामान्य मनोभावों पर बल के विषय में दोनों समीक्षकों में समानता दिखाई देती है।

डॉ. जॉनसन ने इसी विश्व को यथार्थ माना और अन्योक्तिपरक काव्य या आध्यात्मिक काव्य की खिल्ली उड़ाई। एक बार उन्होंने कहा- "विश्व में जितने अन्योक्तिपरक चित्र हैं, उन्हें देखने की अपेक्षा मैं एक जाने हुए कुत्ते का चित्र देखना अधिक पसंद करता हूँ।"[6] वे सभी उत्कृष्टताओं का आधार सत्य को मानते हैं- 'जो कवि प्रेम व्यक्त करता है, उसे चाहिए कि वह उसकी शक्ति का अनुभव करे।'[7] आचार्य शुक्ल ने भी **काव्य सत्य** को महत्वपूर्ण माना है। इसी के द्वारा 'जीवन की मर्मस्पर्शिनी अवस्थाओं के साथ हृदय का पूर्ण सामंजस्य' दिखाया जा सकता है।

डॉ. जॉनसन ने मेटाफिजिकल कवियों के अतिप्राकृतिक तत्वों, परस्पर विरोधी बिम्बों एवं सायास लाई हुई आध्यात्मिकता का डटकर विरोध किया। डॉ. जॉनसन की मान्यता थी-- मेटाफिजिकल कविता न तो प्रकृति का चित्रण करती है, न जीवन का, न वह वस्तु के रूप को चित्रित करती है, न बुद्धि के कार्यों को प्रस्तुत करती है। ऐसी कविताओं में प्रकृति का वास्तविक अनुकरण नहीं किया जाता है, वरन् उनमें अवास्तविक, व्यर्थ एवं निस्तत्व भावनाओं या विचारों को प्रस्तुत किया जाता है।[8] डॉ. जॉनसन काव्य को 'सामान्य प्रकृति' या 'विश्व व्यापी मानव प्रकृति' का चित्रण मानते हैं अतः उन्होंने मेटाफिजिकल कविताओं का विरोध तीन बातों के कारण किया- 1. असंश्लिष्ट, असंबद्ध बिम्बों का प्रस्तुतीकरण, 2. अतिशयोक्तिपूर्ण सायास सिद्ध अलंकरण तथा 3. अप्राकृतिक तत्वों का समावेश। डॉ. जॉनसन ने इन गूढ़ रूपकों, उपमाओं एवं व्यंजनाओं के कारण मेटाफिजिकल कवियों की कविता को 'अकाव्य' घोषित किया।

आचार्य शुक्ल ने हिन्दी के रहस्यवादी कवियों को अंग्रेजी के मेटाफिजिकल कवियों (विलियम ब्लेक, क्राशा, काले आदि) की कोटि का मानकर उनका डटकर विरोध किया। वे इसी लोक को यथार्थ मानते हुए कहते हैं-"यह अनंत रूपात्मक कल्पना व्यक्त और गोचर है- हमारी आँखों के सामने बिछी हुई है। समष्टि में यह शाश्वत और अनंत है। इसी की भिन्न-भिन्न रूप चेष्टाओं की ओर हृदय के भिन्न-भिन्न भावों को अपने निज के संबंध प्रभाव से मुक्त करके प्रवृत्त करना ब्रह्म की व्यक्त सत्ता में अपनी सत्ता को लीन करना है।"[9] इसी आधार पर शुक्ल जी ने पाश्चात्य साम्प्रदायिक रहस्यवादियों, कल्पनावादियों, सूफियों आदि का घोर विरोध किया। डॉ. जॉनसन की तरह शुक्ल जी भी मेटाफिजिकल कवियों की आध्यात्मिकता को मिथ्या मानते हुए लिखते हैं- "इंग्लैंड के पूर्ववर्ती रहस्यवादी कवि ब्लेक ने कल्पना का बड़े जोर से पल्ला पकड़ा और उसे नित्य पारमार्थिक सत्ता के रूप में ग्रहण करने को कहा कि

कल्पना का लोक नित्य लोक है। यह शाश्वत और अनंत है।"[10] रहस्यवाद के इस साम्प्रदायिक स्वरूप को शुक्ल जी त्याज्य मानते थे जो विदेशों से आयातित था। अतः रहस्यवाद की कविता के सम्बन्ध में यह भ्रांति फैलाना कि सारे योरप में इसी प्रकार की कविता हो रही है, यही वर्तमान कविता का स्वरूप है, घोर अपराध है। रहस्यवाद की कविता एक छोटे से सम्प्रदाय के भीतर की वस्तु है।"[11] इस प्रकार की कविताओं में, डॉ. जॉनसन की तरह, शुक्ल जी को भी दो बातें विरक्तिजनक लगी- भावों में सच्चाई का अभाव (इन-सिनसियरिटी) और व्यंजना की कृत्रिमता (आर्टिफिशैलिटी)।[12]

शुक्ल जी ने कविता या अन्य कलाओं का विकास लोक के भीतर से ही माना। लोक विरत कल्पनावादी उड़ानों अथवा आध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति को उन्होंने हेय समझा। अतः कहा जा सकता है कि शुक्ल जी ने अवास्तविक अतिव्यंज-नात्मक अप्रस्तुत योजना वाले 'रहस्यवादी' काव्य की आलोचना की प्रेरणा संभवतः डॉ. जॉनसन से पाई होगी जहाँ वे मानव प्रकृति के सामान्य नियमों की कसौटी पर कस कर "मैटाफिजिकल काव्य धारा" की अप्रासंगिकता सिद्ध कर देते हैं।

अंग्रेजी समीक्षा साहित्य में डॉ. जॉनसन अपने युग के डिक्टेटर माने जाते हैं। इन्होंने अपनी मान्यताओं को दृढ़ता से स्थापित किया। उन्होंने जिन कवियों को सर्वश्रेष्ठ निरूपित किया, उन्हें भविष्य में कोई भी अस्वीकार नहीं कर सका। हिन्दी में ठीक यही स्थान आचार्य शुक्ल का है। उन्होंने तुलसी और जायसी को वह प्रतिष्ठा प्रदान की जो साहित्य में स्थायी मूल्य की वस्तु बनकर रह गई। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य शुक्ल ने ड्राइडन और डॉ. जॉनसन से एक ऐसी वस्तुनिष्ठ, तात्विक, विश्लेषणात्मक, ऐतिहासिक-जीवन चरितात्मक आलोचना दृष्टि पाई जिसके द्वारा उन्होंने कवियों को काल, समाज एवं जीवन के परिप्रेक्ष्य में रखकर देखने के मापदण्ड की स्थापना की।

आचार्य शुक्ल हिन्दी साहित्य में एक ऐसी प्रतिभा हैं, जिनको स्पर्श किये बिना कोई भी बड़ा साहित्यकार व समीक्षक नहीं हो सकता। शुक्ल जी हिन्दी में अपरिहार्य है।

शुक्ल जी केवल इंटर पास थे, परन्तु बनारस विश्वविद्यालय में एम.ए. की कक्षाओं को पढ़ाया करते थे। हिन्दी की एम.ए. कक्षाओं के लिए पहली बार शुक्ल जी ने प्रश्न-पत्रों का निर्माण किया, जो आज तक आदर्श रूप में चले आ रहे हैं। शुक्ल जी को जो भी विषय दिया जाता, उसे वे पूरे सामर्थ्य के साथ पढ़ाते थे। पूरी तैयारी करते थे। शुक्ल जी पूरा अध्ययन कर नोट्स लिया करते थे जो एक नोटबुक में लिखे हुए होते थे। कभी तो अंग्रेजी में, कभी संस्कृत में और कभी पेन से, कभी पेंसिल से नोट किया करते थे। शुक्ल जी का प्रिय विषय था काव्यशास्त्र। इस पर इनके बहुत सारे नोट्स हैं। शुक्ल जी की मृत्यु के बाद इन नोट्स को लेकर 'रस मीमांसा' नामक ग्रंथ प्रकाशित किया गया जो हिन्दी काव्यशास्त्र का प्रकाश स्तंभ है।

आचार्य शुक्ल की जनवादी दृष्टि

हिन्दी साहित्य के इतिहास में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का प्रादुर्भाव ऐसे समय में हुआ जब साहित्य एवं समाज सदियों से ढोते रूढ़ियों की बेड़ियों के भार से मुक्ति हेतु छटपटा रहा था। वह एक ऐसा युग था जब एक ओर युग-युगों की दासता का अंधकार अपनी सारी शक्ति के साथ पैर जमाने में लगा था तो दूसरी ओर नयी जनचेतना का बाल-अरुण आकाश में उदित हो रहा था। एक ओर साम्राज्यवादी विदेशी शक्तियों का दमनचक्र तो दूसरी ओर धार्मिक अंधविश्वासों, रूढ़ियों से बद्ध मानव समुदाय सामन्तवादी शोषण की आर्थिक पराधीनता से दबा कुनमुना रहा था, तो नवजागरण का युग प्रारंभ हो चुका था। ऐसे में शुक्ल जी ने साहित्य को एक ऐसा दिशा निर्देश दिया जो ऐतिहासिक महत्व की वस्तु है।

शुक्ल जी ने रीतिकालीनी मनोरंजवादी,

कलावादी, भोग आधृत सामंतवादी कला मूल्यों को अस्वीकार कर, साहित्य में जनचेतना को स्थापित किया। मुगलकाल से चली आ रही भोगवादी संस्कृति की गहरी जड़ें सिर्फ रीति-रिवाजों तथा खान-पान तक ही सीमित नहीं थी अपितु संगीत, नृत्य एवं साहित्य जैसी ऊर्ध्वगामी कलाओं को भी उसने अपने अवांछनीय तत्वों द्वारा अपावन किया था। संगीत-नृत्य की तरह काव्य भी मात्र दरबारी वस्तु बनकर रह गया था। लोक-जीवन की विडंबनाओं से न तो उसका कोई सरोकार था, न उसमें लोकजीवन की संवेदनाओं की अभिव्यक्ति ही थी। भक्तिकाल के स्वतंत्रचेता कवियों की परम्परा विच्छिन्न होकर, दरबारी वातावरण में घुटकर रह गई थी। जिस समय हिन्दी में केशव, देव, मातिराम, बिहारी जैसे कवियों के श्रेष्ठत्व को सिद्ध करने हेतु होड़ मची हुई थी, उसी समय कुछ ठोस सिद्धान्त लेकर आचार्य शुक्ल आलोचना के क्षेत्र में उतरे। उन्होंने साहित्य को रीति-चेतना, स्थूल मनोरंजन, अतिकल्पनावादी तत्वों, वायव्य रहस्यवादियों, तथा निरपैक्ष कलावादियों के संकुचित घेरे से निकालकर उसे जीवंत सामाजिक यथार्थ की बृहत पृष्ठ भूमि पर स्थापित किया।

शुक्ल जी ने इसी जगत को सत्य माना तथा शब्द काव्य की श्रेष्ठता हेतु वस्तु काव्य का अनुशीलन आवश्यक माना। शुक्ल जी ने साहित्य का सीधा संबंध जीवन से तथा जीवन की विविधताओं से स्थापित किया। उन्होंने भावों को कर्मों का प्रेरक मानकर साहित्य को ऐसी शक्ति के रूप में स्वीकार किया जो भाव संचालन कर मनुष्य को कर्मक्षेत्र में प्रवृत्त करती है। इसी भाव या मनोवेग द्वारा मनुष्य का शील या सामाजिक प्रतिबद्धता संचालित होती है। शुक्ल जी के शब्दों में "समस्त संकल्पात्मिका और निश्चयात्मिका वृत्तियाँ किसी 'भाव' या 'मनोवेग' द्वारा प्रेरित होती हैं और उसके शासन में रहकर उसके लक्ष्य के अनुकूल चलती हैं।"[1] तथा "मनुष्य में शील या आचरण की प्रतिष्ठा भाव प्रणाली की स्थापना के अनुसार होती है।"[2] अतः भावों में जहाँ मानव हृदय को प्रेरित करने की, उसे सक्रिय बनाने की शक्ति है, वहीं साहित्य में भावों के आन्दोलन या उन्मेष की शक्ति निहित है। मनुष्य की कार्यशक्ति के पीछे भाव की प्रेरणा निहित होती ही है। इसी कारण शुक्ल जी भावों को मानव जीवन का प्रवर्तक मानते हुए लिखते हैं-- "समस्त मानव जीवन के प्रवर्तक भाव या मनोविकार होते हैं। मनुष्य की प्रवृत्तियों की तह में अनेक प्रकार के भाव ही प्रेरक रूप में पाये जाते हैं। शील या चरित्र का मूल भी भावों के विशेष प्रकार के संगठन में समझना चाहिए। लोक रक्षा और लोक रंजन की सारी व्यवस्था का ढाँचा इन्हीं पर ठहराया गया है।"[3] कहना न होगा आचार्य शुक्ल लोक रक्षा, लोक रंजन जैसे शब्दों में 'लोक' कहकर सामान्यजन को ही ध्यान में रखते हैं, विशिष्ट को नहीं। यहीं से वे साहित्य की प्रतिबद्धता को सामाजिक चेतना, जन-जीवन की विविधता एवं हृदय की सामान्यता के बीच से उभारते हैं। शुक्ल जी ने हिन्दुस्तान रिव्यू नामक अंग्रेजी समाचार पत्र में What has India to do नामक निबंध प्रकाशित करवाया। इस निबंध द्वारा शुक्ल जी के देशाभिमानी, स्वाभीमानी तथा स्वतंत्रचेता व्यक्तित्व का पता चलता है।

हिन्दी साहित्यकारों में शुक्ल जी का महत्व जहाँ एक ओर हिन्दी-आलोचना में उनके प्रबुद्ध विशद प्रदेय के कारण है, वहीं दूसरी ओर उनके मौलिक चिंतन के कारण भी है। शुक्ल जी ने धर्म, भक्ति, समाज, रस आदि पर मौलिक रूप से विचार किया था तथा इन्हें साहित्य के उन उपादानों के रूप में स्वीकार किया था जिनके द्वारा सामाजिक श्रेयस या 'बहुजन हिताय' की साधना हो सके।

धर्म के विषय में तो शुक्ल जी के विचार अत्यंत मौलिक हैं। वे धर्म को ईश्वर प्रदत्त व्यवस्था न मानकर सामाजिक क्रिया-प्रतिक्रिया स्वरूप समुत्पन्न मानते हैं। वे धर्म का आधार अध्यात्म या रहस्यवाद में न खोजकर 'सामाजिक सुरक्षा' एवं 'लोक रक्षा' में

देखते हैं। धर्म का विकास वे परस्पर सामाजिक व्यवहार एवं जीवन तथा जगत् के अनिवार्य व्यापार के बीच से ही मानते हैं। धर्म के विषय में वे विकासवादी सिद्धान्त पर प्रतिफलित करते हुए लिखते हैं --"विकासवाद की व्याख्या के अनुसार धर्म कोई अलौकिक, नित्य और स्वतंत्र पदार्थ नहीं है। समाज के आश्रय से ही उसका क्रमशः विकास हुआ है। धर्म का कोई ऐसा सामान्य लक्षण नहीं बताया जा सकता है जो सर्वत्र और सब काल में -- मनुष्य जाति की जब से उत्पत्ति हुई तब से अब तक बराबर मान्य रहा हो। समाज की ज्यों-ज्यों वृद्धि होती गई, त्यों-त्यों धर्म की भावना में देशकालानुसार फेरफार होता गया।"[4]

शुक्ल जी मानते हैं कि धर्म के भीतर जो मूल्य स्थित हैं, उनका सीधा संबंध सामाजिक सुरक्षा एवं प्रगति से है। सत्याचरण, परोपकार, दया आदि धर्म के केन्द्रस्थ मूल्य हैं, बाकी बातें तो मात्र आचार हैं जो युगानुरूप बदलती रहती हैं। मूर्खतावश लोग नमाज, रोजा, उपवास, तीर्थाटन, बलि-हलाल, तिलक, दाढ़ी आदि धर्म के बाहरी तथा अनावश्यक उपादानों को ही धर्म समझकर लड़ मरते हैं। ये उसके सूक्ष्म केन्द्रस्थ मूल्यों को न जानते हैं, न जानने का यत्न ही करते हैं। आज के वैज्ञानिक युग में भी अनेक धर्मांध पढ़े-लिखे लोग भी स्वर्ग-नर्क, कुफ्र, ईश्वर के क्रोध, आकार-निराकार जैसी बातों पर अनावश्यक बहस ही नहीं करते, अपने मतों के प्रतिपादन हेतु लड़ मरते हैं। ऐसे बुद्धिहीन धर्मांध व्यक्तियों के प्रति व्यंग्य करते हुए शुक्ल जी लिखते हैं --"ईश्वर साकार है कि निराकार, लम्बी दाढ़ी वाला है कि चार हाथ वाला, अरबी बोलता है कि संस्कृत, मूर्ति पूजनेवालों से दोस्ती रखता है कि आसमान की ओर हाथ उठानेवालों से, इन बातों पर विवाद करने वाले अब केवल उपहास के पात्र होंगे।[5]" धर्म जब कट्टर सम्प्रदाय या महजब का रूप धारण कर लेता है तब वह सिर्फ सामाजिक प्रगति का बाधक ही नहीं होता, विनाशकारी भी होता है, तथा चिंतन में रुकावट भी उत्पन्न करता है। धर्मांध व्यक्ति बिना सोचे समझे कुछ बनी बनायी लीकों पर चलता है तथा अपेक्षा रखता है कि दूसरे भी उसी पर चले। जो उस पर नहीं चलते, या उसमें विश्वास नहीं करते उन्हें खुदा का दुश्मन या धर्म का शत्रु मानकर उन्हें मारने-मिटाने पर आमादा हो जाता है। शताब्दियों से धर्म की यही भूमिका रही है। एक ओर जहाँ संसार के धर्मों ने कुछ मानवीय मूल्य प्रदान किये हैं, वहीं दूसरी ओर रक्त की नदियाँ भी बहाई हैं। इस्लाम का प्रचार तलवार के जोर पर ही हुआ है। उन्होंने विधर्मियों के धर्म स्थलों का विनाश कर, जो सामूहिक नर संहार किया है, वह इतिहास की बात ही है। ईरान जैसे देश में धर्म के कट्टरपंन के नाम पर लाखों लोगों की बली चढ़ाई जा रही है। विश्व में प्रोटेस्टेंट, केथोलिक, शिया-सुन्नी, हिन्दू-मुस्लिम आदि धार्मिक विद्वेषों ने रक्त की नदियाँ बहाई हैं। इन धर्मांधतापूर्ण पाशविक अत्याचारों ने मानवीय प्रगति, चिंतन एवं विकास को तो अवरुद्ध किया ही है, मनुष्य की चेतना को भी सम्प्रदाय या मजहब के कटघरे में बंद कर दिया है। अतः आज के वैज्ञानिक युग में धर्म के सच्चे स्वरूप को समझकर, उसकी वैज्ञानिक व्याख्या करके, उसकी सामाजिक भूमिका को रेखांकित करना अनिवार्य हो गया है। यह कार्य अपने लेखन में शुक्ल जी ने किया था।

शुक्ल जी धर्म को सीधे सामाजिक श्रेयस से जोड़ते हुए लिखते हैं-- **"वह व्यवस्था या वृत्ति जिससे लोकमंगल का विधान होता है, 'अभ्युदय' की सिद्धि होती है, धर्म है।[6]"** इस वाक्य में 'लोकमंगल' तथा 'अभ्युदय' ध्यान देने योग्य शब्द हैं। जिस किसी से भी लोक का अकल्याण होता है, या प्रगति का पथ अवरुद्ध होता है, या जो स्वयं एक शोषण का 'अस्त्र' बन जाता है, शुक्ल जी की दृष्टि में वह धर्म नहीं है। उन्हीं के शब्दों में धर्म जितने ही अधिक विस्तृत जनसमूह के दुःख-सुख से संबंध रखने वाला होगा, उतना ही उच्च श्रेणी का माना जाएगा। धर्म के स्वरूप की उच्चता उसके लक्ष्य की व्यापकता के अनुसार समझी जाती है।[7] पुनः जो धर्म

मात्र एक विशिष्ट समुदाय मात्र के श्रेयस से बद्ध होगा, या जो मात्र उस धर्म को मानने वालों के ही लाभ के बारे में सोचेगा, वह संकुचित धर्म माना जाएगा, इसके विपरीत श्रेष्ठ धर्म व्यक्ति, गृह एवं कुल से होता हुआ विश्व धर्म की भूमिका पर जा पहुँचेगा जहाँ अपने परायेपन का भाव लुप्त हो जाता है तथा सभी के सुख, शांति समृद्धि हेतु यत्न किया जाता है। इसी धर्म की विविध भूमिकाओं को शुक्ल जी ने विविध नाम दिये हैं। "धर्म की ऊँची-नीची कई भूमियाँ लक्षित होती हैं -- जैसे गृहधर्म, कुल धर्म, समाज धर्म, लोक-धर्म और विश्व धर्म या पूर्ण धर्म। किसी परिमित वर्ग के कल्याण से सम्बन्ध रखने वाले धर्म की अपेक्षा विस्तृत जनसमूह के कल्याण से संबंध रखने वाला धर्म उच्च कोटि का है। धर्म की उच्चता उसके लक्ष्य के व्यापकत्व के अनुसार समझी जाती है। गृहधर्म या कुलधर्म से समाज धर्म श्रेष्ठ है, समाज धर्म से लोक धर्म, लोक धर्म से विश्व-धर्म, जिसमें धर्म अपने शुद्ध और पूर्ण स्वरूप में दिखाई पड़ता है।"[8] अतः धर्म का वास्तविक स्वरूप प्रगति का बाधक न होकर, साधक होता है। कहना न होगा कि धर्म की मौलिक व्याख्या तथा उसको समाज-श्रेयस से जोड़ने वाली भूमिका बता करके शुक्ल जी ने एक ऐसे मार्ग का सूत्रपात किया जो साहित्यकों को धर्म के सच्चे स्वरूप को रूपायित कर सके तथा उसके संकुचित घेरे से निकाल सके। इस प्रकार का धर्म शोषण का अस्त्र नहीं रह जाता, न मूढ़ आचारों का अंधानुकरण ही बनता है।

आचार्य शुक्ल ने हमेशा ही साम्राज्यवाद की शोषणवादी नीतियों का जमकर विरोध किया। वे उस नीति को कतई पसंद नहीं करते थे जिसके अन्तर्गत बड़े राष्ट्र अपनी शोषणवादी नीति के अन्तर्गत, व्यापार के नाम पर छोटे राष्ट्रों की असंख्य प्रजा का रक्त चूसते रहते हैं। वे लिखते हैं-- व्यापारनीति राजनीति का प्रथम अंग हो गई। बड़े-बड़े राष्ट्र माल के बिक्री के लिए लड़ने वाले सौदागार हो गये। अब सदा एक दूसरे देशों का चुपचाप धन हरण करने की ताक में लगा रहता है।[9] एक ओर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में व्यापार धर्म के शोषणवादी दाँव-पेंचों की शुक्ल जी भर्त्सना करते हैं, दूसरी ओर समाज में व्याप्त 'टकाधर्म' पर भी व्यंग्य करते हुए कहते हैं-- 'राजधर्म, आचार्य धर्म, वीर धर्म, सब पर सोने का पानी फिर गया, सब टकाधर्म हो गये।[10]'

धन संग्रह की चिन्ता में चौबीसों घंटे लिप्त ऐसे अर्थ पशुओं के लिए प्रेम, कर्तव्य, परोपकार सामाजिक दायित्व जैसी बातें कुछ महत्व नहीं रखती। ये अर्थ पशु तो दिन-रात किसी भी कीमत पर, अपनी तिजोरी भरने में व्यस्त होते हैं। वे लोग अर्थशास्त्र की बातें तो करते हैं, पर व्यवहार में शोषणवादी ही होते हैं। ऐसे टकावादियों के प्रति शुक्ल जी कहते हैं -- "अर्थशास्त्र की दुहाई दिया करो, पर प्रेम का नाम उसके साथ न घसीटो। प्रेम हिसाब-किताब की बात नहीं है। हिसाब-किताब करने वाले भाड़े पर भी मिल सकते हैं पर प्रेम करने वाले नहीं।[11]" प्रेम ही सामाजिक चेतना का, देशभक्ति का या कर्तव्याकर्तव्यरूपी विवेक बुद्धि का प्रेरक तत्व है। जहाँ प्रेम नहीं, वहाँ तो मात्र उपचार या व्यापार होता है। ऐसे लोग स्व-केन्द्रित स्वार्थमय जीवन ही जीते हैं। ऐसे लोगों के प्रति आक्रोश प्रकट करते हुए शुक्ल जी लिखते हैं--"मोटे आदमियो! तुम जरा'सा दुबले पतले हो जाते-अपने अंदेशे से ही सही, तो जाने कितनी ठठियों पर मांस चढ़ जाता।"[12] शुक्ल जी मानते थे कि परिचय प्रेम का प्रवर्तक है। जो व्यक्ति देश के वनों, वृक्षों, पर्वतों पशु-पक्षियों से परिचय रखता है, जिसे किसानों की सही-सही स्थिति का ज्ञान है, वह सचमुच ही देशभक्ति कर सकता है। पर चित्रों को देखकर, समाचार पत्रों तथा पुस्तकों को पढ़कर समाजसुधार-गरीबों की सहायता अथवा देशभक्ति की बात करना व्यर्थ है। उन्हीं के शब्दों में --"जो यह भी नहीं जातने कि कोयल किस चिड़िया का नाम है, ... चातक कहाँ चिल्लाता है... किसानों के झोंपड़ों के भीतर क्या हो रहा है, वे यदि

दस बने-ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी' की औसत आमदनी का परता बताकर देश-प्रेम का दावा करें तो उनसे पूछना चाहिए कि भाईयो! बिना रूप परिचय का यह प्रेम कैसा? जिनके सुख-दुःख के तुम कभी साक्षी नहीं हुए उन्हें तुम सुखी देखना चाहते हो, यह कैसे समझें? जिनके सुख-दुःख के तुम कभी साक्षी नहीं हुए उन्हें तुम सुखी देखना चाहते हो, यह कैसे समझें? उनसे कोसों दूर बैठे-बैठे, पड़े-पड़े या खड़े-खड़े तुम विलायती बोली में अर्थशास्त्र की दुहाई दिया करो, और प्रेम का नाम उनके साथ न घसीटो।[13]" शुक्ल जी का प्रेम केवल शाब्दिक प्रेम नहीं था-- वह 'सॉरी' या एस्क्यूज वाला प्रेम भी नहीं था। उनके प्रेम में गहरी संलग्नता थी। इसी प्रेम के माध्यम से व्यक्ति के हृदय में 'सम-वेदना' उत्पन्न होती है। जो व्यक्ति दीन-दुखियों के अभावों से परिचित नहीं है, जो कभी यह सोचने की चेष्टा नहीं करता कि बिना घरवाले, पेड़ों के नीचे रहने वाले ते मेहनतकश लोग ठंडी और वर्षा का मौसम कैसे गुजारते होंगे। वह मात्र शाब्दिक प्रेम और पुस्तकीय समवेदना ही व्यक्त कर सकता है। पर सच्चा साहित्यकार तो उन स्थितियों को सूक्ष्म-गहन दृष्टि से देखता है, आत्मीयता पूर्वक उनके सुख-दुःखों का समभागी बनता है, तब उस संलग्नता तथा प्रेम के माध्यम से ही उसके हृदय में संवेदना उत्पन्न होती है, भावों का विचारों का आंदोलन होता है जो पुनः एक कृति के रूप में जन्म लेता है। ऐसे साहित्य में अनुभूति की ईमानदारी होती है तथा शुक्ल जी के शब्दों में भावों के संचलन के माध्यम से वह पाठकों, को कर्म क्षेत्र में प्रवृत्त करने की क्षमता रखती है। भाव ही कर्म के मूल प्रवर्तक हैं और भावों का उन्मेष सच्ची संलग्नता एवं सहानुभूति के द्वारा ही संभव है। इस प्रकार शुक्ल जी भावों को सीधे मूल्यों से जोड़ देते हैं। ऐसे मूल्य जो मनुष्य को कार्यक्षेत्र में प्रवृत्त करते हैं। जो उसे स्वार्थ से ऊपर उठकर समाज की स्थिति के बदलाव की, परिवर्तन की कामना की भूमिका प्रदान करती है। जो व्यक्ति को निरपेक्ष द्रष्टा नहीं, परिवर्तन का भागीदार बनाते हैं। ऐसे मूल्यों का प्रस्थापन सत्-साहित्य द्वारा ही संभव है-- ऐसा शुक्ल जी दृढ़तापूर्वक मानते थे।

शुक्ल जी ने अपनी समीक्षा का आधार भारतीय 'रससिद्धान्त' को ही बनाया। पर परंपरा से चले आ रहे 'रससिद्धान्त' को उन्होंने आधुनिक मनोवैज्ञानिक मान्यताओं की दीप्ति प्रदान की- उसकी अलौकिकता, ब्रह्मानंद सहोदरत्व जैसी बातों को दूर किया तथा 'हृदय की मुक्तावस्था को कविता मानकर, रस को मनोमय कोष तक सीमित कर दिया। शुक्ल जी अध्यात्म को साहित्य के बाहर की वस्तु मानते थे। इसी कारण उन्होंने 'रहस्यवादियों' का विरोध किया। उसी प्रकार काव्य का प्रयोजन मात्र मनोरंजन अथवा कला के लिए मानने वालों के प्रति भी शुक्ल जी ने आक्रोश प्रकट किया। उन्होंने काव्य के मूल्यांकन हेतु 'साधारणीकरण', हृदय की 'मुक्तावस्था' जैसे शब्द हिन्दी समीक्षा को प्रदान किये। शुक्लजी भावों के सामान्यीकरण पर अधिक बल देते हैं। जिस साहित्य में भावोद्वेलन की शक्ति नहीं होती, उसकी प्रभाव क्षमता के प्रति वे संदेह प्रकट करते हैं। भावों के इसी सामान्यीकरण का नाम उन्होंने रसोद्बोधन दिया है। शुक्ल जी के शब्दों में-- "जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलंबन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ "साधारणीकरण" कहलाता है। सच्चा कवि वही है जिसे लोक हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोक हृदय में हृदय लीन होने की दशा का नाम 'रसदशा' है।[14]"

उपरोक्त उद्धरण में 'लोक हृदय की पहचान' और 'लोक हृदय में लीन होना' बड़ी महत्वपूर्ण बातें हैं। यहाँ शुक्ल जी लेखक से अपेक्षा करते हैं कि वह अपनी कल्पना द्वारा निर्मित सौन्दर्य के स्फटिक सौध में बैठकर, इन्द्रधनुषी सपनों की दुनिया - कि जिसमें

देव देवांगनाएँ, अप्सराएं हों, परियाँ हो, भोग हो, उन्मुक्त विहार हो, अजरता-अमरता हो उसे छोड़कर, अपने चारों ओर फैले गर्त्य संसार के सुख-दुःखों पर, सुन्दर-असुन्दर पर दृष्टिपात करे। वे अपेक्षा करते हैं कि कवि जीवन के अच्छे बुरे, अंधकार भरे तथा प्रकाश भरे- दोनों पक्षों को खूब गौर से निहारे। वह ऊँचे पर्वतों-नदियों, लम्बे पेड़ों और पक्षियों के सौन्दर्य को देखे साथ ही झोपड़ियों में भूख से अकुलाते श्रमजीवियों के कष्टों को भी देखे-परखे। लोकजीवन का सही स्पंदन साहित्य को स्थायित्व तथा जीवंतता प्रदान करता है। विलियम वर्डस्वर्थ ने कविता को स्फटिक सौध के राजप्रासादों से नीचे उतारकर सामान्य से सामान्य व्यक्ति और विषय को काव्य का आलंबन बनाया था। शुक्ल जी कवि से यही अपेक्षा करते हैं। अध्यात्म का मार्ग भी वे इसी जगत से जाता हुआ बतलाते हैं। जो व्यक्ति जगत् के वस्तुगत सत्य को अंगीकार नहीं करता, वह मात्र बाह्य लोक में उड़ान भरता है। भक्ति के विषय में शुक्ल जी की उक्ति है-- हम तो जगत् के बीच हृदय के सम्यक प्रसार में ही भक्ति का प्रकृत लक्षण देखते हैं, क्योंकि राम की ओर ले जानेवाला रास्ता इसी संसार से होता हुआ गया है।[15]' अतः शुक्ल जी का अध्यात्म भी लोकमुक्त नहीं, लोकबद्ध है। आदि कवि वाल्मिकी की इसी लोकबद्धता की प्रशंसा करते हुए शुक्ल जी लिखते हैं- "आदि कवि वाल्मिकी ने राम और सीता के प्रेम का विकास मिथिला या अयोध्या के महलों और बगीचों में न दिखाकर दण्डकारण्य के विस्तृत कर्मक्षेत्र के बीच दिखाया है। उनका प्रेम जीवन यात्रा के मार्ग में माधुर्य फैलाने वाला है, उससे अलग किसी कोने में चौकड़ी या आहें भरने वाला नहीं, उसके प्रभाव से वनचर्या में एक अद्‌भुत रसलीला आ गई है। सारे कंटीले पथ प्रसूनमय हो गये हैं, संपूर्ण कर्मक्षेत्र एक मधुर ज्योति से जगमगा उठा है।[16]" शुक्ल जी ने फारसी काव्य के ऐकांतिक आहें भरने वाले या बिहारी के विरह में जलमरनेवाले निष्कर्म प्रेम को बैठे ठालों का मनोरंजन माना है। उनके अनुसार सच्चे प्रेम का प्रसार तो जगत के कर्मक्षेत्र के भीतर सतत् उद्योगशीलता के बीच होता है। प्रेम प्रवृत्तिमय हो यही शुक्ल जी को काम्य है, निवृत्तिमय सांसारिक प्रेम या आध्यात्मिक उपलब्धियाँ शुक्लजी हेय समझते हैं।

लेखन स्पष्ट है कि शुक्ल जी का सर्वत्र एक सामाजिक प्रतिबद्धता, कर्मठता, गहरे लगाव और अपनेपन से भरा है। उनके साहित्य की मान्यताएं ठोस कर्मभूमि पर प्रतिष्ठित हैं। लोकबद्धता उनका शस्त्र है, जीवन की विविधता का समावेश उनकी कसौटी का पत्थर है। इस प्रकार यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि शुक्ल जी अपनी सारी युगीन सीमाओं के बावजूद, अत्याधिक लोकबद्ध एवं जनवादी साहित्यकार एवं समीक्षक थे।

शुक्ल जी का मार्ग लोक या जन सामान्य के सुख-दुःख से जुड़कर, एक होकर जाता है, उससे विरक्त होकर, आत्म-केन्द्रित होकर, जीवन-निरपेक्ष होकर नहीं जाता। लोक जीवन से गहरी भावात्मक संलग्नता ही शुक्ल जी के समग्र चिंतन, मनन, अध्ययन और लेखन का सारांश है, शक्ति है और सामर्थ्य है। उनके साहित्यालोचन का आधार और मापदण्ड उनकी जनवादी दृष्टि है।

सहायक ग्रंथ

आचार्य शुक्ल के ग्रंथ : 1. रस मीमांसा पृ. 171, **2.** वही पृ. 137, **3.** चिंतामणि प्रथम भाग पृ. 4, **4.** विश्व प्रपंच पृ. 76, **5.** वही पृ. 119, **7.** चिंतामणि भाग-1 पृ. 211, **8.** वही पृ. 208, **9.** वही पृ. 74, **10.** वही पृ. 94, **11.** वही पृ. 77, **12.** वही पृ. 77, **13.** वही पृ. 77, **14.** वही पृ. 227, **15.** त्रिवेणी पृ. 91, **16.** वही पृ. 90।

(पूर्व अध्यक्ष-हिंदी विभाग,
उस्मानिया वि. वि. हैदराबाद
फ्लैट नं.-6, ब्लॉक नं.-3
केन्द्रीय विहार, मियांपुर
हैदराबाद-500049
फोन : 040 - 23044660

●

आधुनिक संदर्भों की युगीन प्रस्तुति : कनुप्रिया

डॉ. कृष्णा आचार्य

रचनाकार कोई भी हो, सामने उपस्थित युग, उसके भीतर व्याप्त मानसिकता और विचारधारा की उपेक्षा करके सृजन नहीं कर सकता है। धर्मवीर भारती भी इसके अपवाद नहीं हैं। कहने को तो कहा जाता है कि धर्मवीर भारती की 'कनुप्रिया' भावाकुल तन्मयता के क्षणों की अभिव्यक्ति है। इस अभिव्यक्ति में राधा एक समर्पित, प्रेममयी नारी के रूप में सामने आई है किंतु यह भी विचार करने की बात है कि क्या राधा बावजूद तन्मयता के, बावजूद समर्पण के, नयी चेतना से युक्त नहीं है'? यदि गम्भीरता से गहन विचार करें तो यह स्पष्ट होगा कि राधा की तन्मयता विशिष्ट है। राधा क्षणों को भोगती और क्षणों के अनन्त समुच्चय को पूरा जी लेने के पश्चात् उसे क्षण भी सत्य लगते हैं और साथ ही साथ यह भाव भी उसके मन में जन्म लेता है कि उसका अपना व्यक्तित्व है, उसका भी अस्तित्व है। कृष्ण ने राधा के प्रणय मात्र को स्वीकार नहीं किया, क्योंकि वे तो सम्पूर्णता के लोभी थे और सखी को जी लेने के बाद, उसे बिलखता-तड़पता छोड़ इतिहास निर्माण को युद्ध क्षेत्र की ओर चले जाते हैं। यहीं से नया मोड़ शुरू होता है जो राधा की अस्तित्व चेतना को सामने लाता है। यही चेतना की वह भूमि है जो इस कृति को आधुनिक बोध व युग बोध से जोड़ती है।

डॉ. नगेन्द्र द्वारा सम्पादित "हिन्दी साहित्य का इतिहास" में रामदरश मिश्र ने कनुप्रिया पर जो टिप्पणी की है, पर्याप्त महत्व रखती है, "राधा के प्रेम-संवेदन के माध्यम से जीवन को समझाने का एक सफल प्रयत्न है। कनुप्रिया पूर्व मान्य रूप में नहीं, एक नये अर्थ में प्रबंध-काव्य है। यह एक ऐसा प्रबंध काव्य है जो आधुनिक शिल्प और भावबोध दोनों को आत्मसात् कर सका है। कनुप्रिया की भी मूल संवेदना प्रेम है किंतु इस संवेदना को उसकी गहराइयों में उभारते हुए भी कवि मूल्यों से उसे असम्पृक्त नहीं कर सका है। कृष्ण का युद्ध सत्य है या राधा के साथ उनके तन्मयता में बीते क्षण? शायद प्रेम के क्षण ही सत्य हैं, क्योंकि वे द्विविधाहीन मन की संकल्पात्मक अनुभूति है और युद्ध द्विविधा की उपज, अनजीये सत्य का आभास। कनुप्रिया अपनी संवेदनात्मक गहराई और शिल्प की ताजगी के कारण एक विशिष्ट उपलब्धि है।"

धर्मवीर भारती द्वारा लिखित "कनुप्रिया" काव्य का संदेश है कि प्रेम की पूर्णता ही जीवन की सार्थकता है और यही सार्थकता व्यक्ति को जीवन से मिला देती है। एक वाक्य में

'कनुप्रिया' भले ही राधा के भावाकुल तन्मयता वाले क्षणों की अभिव्यक्ति हो किंतु उसी भावुकता में वह आधुनिक युगबोध को भी जीती है। अपने सम्पूर्ण समर्पण के बावजूद वह अपने अस्तित्व के लिए जागरूक और सजग है तभी तो तन्मयता के गहरे क्षणों में भी अनजाने ही सहज भाव से अपना प्रश्नाक्रान्त मानस लेकर पाठकों के सामने है।

कनुप्रिया का रचनाकाल संकट बोध की प्रारम्भिक स्थिति का काल था। कवि ने बोध को समझा और उसे कनुप्रिया काव्य में व्यक्त किया। कवि के सामने इतिहास की दुर्दान्त शक्ति से उत्पन्न खतरे और भीतर की तन्मयता की सार्थकता का प्रश्न था। कनुप्रिया की भूमिका में इसी की स्वीकारोक्ति है -- "ऐसे क्षण होते हैं जब लगता है कि इतिहास की शक्तियां अपनी निर्भय गति से बढ़ रही हैं जिनमें कभी हम अपने को विवश पाते हैं, कभी विद्रोह और प्रतिशोध युक्त, कभी वल्गायें हाथ में लेकर गति नायक या व्यख्याकार तो कभी चुपचाप का सजीव स्वीकारते हुए आत्मबलिदानी उद्धारक, लेकिन कुछ क्षण ऐसे भी होते हैं, जब हमें लगता है कि यह सब बाहर का उद्वेग है, महत्व उसका नहीं है, चरम तन्मयता का क्षण जो एक स्तर पर सारे बाह्य इतिहास की प्रक्रिया से ज्यादा मूल्यवान सिद्ध हुआ है, वह क्षण जो हमें सीपी की तरह खोल गया है-- इस तरह का समस्त बाह्यअतीत, वर्तमान और भविष्य सिमटकर उस क्षण में सिमट गया और हम हम नहीं रहे। प्रयास तो कई बार हुआ है कि ऐसा मूल्य स्तर खोजा जा सके जिस पर ये दोनों ही स्थितियां सार्थकता पा सकें।" इस पृष्ठभूमि में राधा की ऐसी ही स्थिति है। उसके सामने इतिहास और मानवीय नियति का संकट बोध खड़ा है। राधा अपनी राग-चेतनायें प्रेम के तन्मयकारी क्षणों को ही जीवन का सर्वस्व समझती है। वे ही क्षण जीवन की सार्थकता के रूप में उसे प्रभावित करते है। किंतु कृष्ण इतिहास निर्माता बनकर उस स्तर की उपेक्षा करते हैं जिस पर राधा स्थित है, राधा इसी संकट-बोध को अनुभव करती है कि आखिर सार्थकता क्या है? प्रेम या इतिहास-निर्माण -- **अर्जुन की तरह कभी/ मुझे भी समझा दो /सार्थकता है क्या बंधु? /मान लो कि मेरी तन्मयता के गहरे क्षण /रंगे हुए, अर्थहीन आकर्षक शब्द थे - /तो सार्थक फिर क्या है, कनु?**

आज का युग विकृत मानवीय सम्बन्धों का युग है। सभ्यता के व्यापक और बौद्धिकीकरण की प्रक्रिया के सतत गतिमान रहने के कारण मानव-मानव के संबंधों में दरार पैदा हो गई, सारे मानवीय सम्बन्ध जड़ताग्रस्त होते जा रहे हैं। कवि भारती के समक्ष भी समय संबंधों के बिखराव की समस्या है। जिसका समाधान कवि राधा के माध्यम से प्रस्तुत करता है। उनका मानना है कि चरम तन्मयता और पूर्ण निष्ठा व सर्वांगीण समर्पण से मानवीय सम्बन्धों से मानवीय सुरक्षा हो सकती है-- **तुम्हारा अजीब सा प्यार है /जो संपूर्णतः बांधकर भी /सम्पूर्णतः मुक्त छोड़ देता है /छोड़ क्यों देता है प्रिय? /क्या हर बार इस दर्द के नये अर्थ /समझने के लिए।**

आज सभी के सामने एक मह्त प्रश्न है- युद्ध का। युद्ध ने व्यक्ति के सामने मृत्यु और संत्रास की स्थिति पैदा कर दी है। कनुप्रिया में भी युद्ध और मानवीय नियति पर विचार किया गया है। राधा ने सहज जीवन जीया और कृष्ण की ओर मुखातिब होकर अपनी सहजता का उत्तर मांग रही है। राधा युद्ध को वितृष्णा की भावना से देखती है। वह महसूस करती है कि युद्ध मानव सभ्यता पर आया सबसे बड़ा संकट है। वह कहती है -- **हारी हुई सेनाएं, जीती हुई सेनाएं /नभ को कंपाते हुए, युद्ध घोष, क्रन्दन स्वर /मांगे हुए सैनिकों से सुनी हुई /अकल्पनीय अमानुषिक घटनायें युद्ध की /क्या ये सार्थक हैं?**

कनुप्रिया के कृष्ण पहले तो इतिहास का निर्माण युद्ध के सहारे करना चाहते हैं किन्तु इतिहास के निष्फल होने पर वे उसे जीर्णवसन की तरह त्याग देते हैं। समुद्र स्वप्न में कनु थकित और क्लान्त होकर

दिशाहारा अनुभव करते हुए अन्ततः प्रिया के कन्धे से सिर टिकाकर बैठ जाते हैं - **और मैंने देखा कि अंत में तुम थक कर /इस सबसे खिन्न उदासीन विस्मित और कुछ कुछ आहत /मेरे कंधों से टिककर बैठ गये हो।**

आधुनिक युग में नर और नारी की समानता का प्रश्न भी बड़ी तीव्रता से उठाया जा रहा है और बार-बार कहा गया है कि उपेक्षित नारी जाति को जागृति के शिखर की ओर ले जाया जाये। कवि भारती ने भी नारी धर्म पर आधुनिक दृष्टि से विचार किया है। मानव जीवन की प्रगति के इतिहास में आज भी नारी अपने पूर्ण समर्पण के बाद भी पीछे छूटती जा रही है। राधा इसी वेदना-बोध से संत्रस्त है। कृष्ण ने अपनी केलि-सखी राधा को इतिहास- संगिनी क्यों नहीं बनाया? "प्रगाढ़ केलि-क्षणों की अंतरंग सखी को बाहों में तो गूंथा, किन्तु इतिहास में गूंथने से कृष्ण हिचकिचाए क्यों? एक ओर समर्पण है, दूसरी ओर नारी के सम्पूर्णता का लोभी पुरुष कृष्ण जो उसके बिना सब कुछ पा लेना चाहता है-- महानता, गौरव और इतिहास पुरुषत्व। कनु के सहारे इसी स्थिति को स्पष्ट किया गया है। कृष्ण की उपेक्षा का आघात सहकर राधा के मन पर क्या बीती होगी? इस पर किसी भी मध्यकालीन कवि ने विचार नहीं किया। भारती ही पहले कवि हैं जो राधा की इस मनःस्थिति और उससे उत्पन्न प्रतिक्रियाओं को शब्दबद्ध करते हैं। राधा के मन की वेदना, प्रतिक्रिया और उपालंभ भावना व युद्ध के प्रति तीखी आलोचनात्मक प्रतिक्रिया व्यंजित है - **सुनो कनु सुनो / क्या मैं सिर्फ सेतु थी तुम्हारे लिए /लीला भूमि और युद्ध क्षेत्र के/अलंघ्य अन्तराल में।**

कनुप्रिया में आधुनिक मानव की स्थितियों का अंकन सर्वव्यापी विवशता और असहायता के रूप में यत्र-तत्र हुआ है। राधा ने कृष्ण की अवशता को महसूस किया है-- **तुम तट पर बांह उठा कर कुछ कह रहे हो /पर तुम्हारी कोई नहीं सुनता, कोई नहीं सुनता।** यह "ऊर्ध्वबाहु विरोभ्येष न च कश्चित् श्रृणोति मे" वाली स्थिति है। नारियों की जिस प्रगति की यात्रा का आरम्भ आधुनिक युग में हुआ, उसमें वे हर मोड़ पर पुरुष के साथ खड़ी दिखाई देने लगी। यह प्रभाव भारती की राधा पर भी है। वह भी यह सहन नहीं कर सकती कि कोई उसे मात्र कृष्ण की केलि-सखी कहे - **सुनो मेरे प्यार/ तुम्हें मेरी जरूरत थी न, लो मैं सब छोड़कर आ गयी हूँ /ताकि कोई तुम्हें यह न कहे /कि तुम्हारी अन्तरंग केलि सखि/केवल तुम्हारे सांवरे तन के नशीले संगीत की /लय बनकर रह गयी......................।**

कनुप्रिया में एक ओर विवशता और असहायता का भाव है तो दूसरी ओर नारी के महत्व गौरव और जागरण को प्रस्तुत किया गया है। राधा सच्चे अर्थों में एक जागृत नारी की तरह कृष्ण की असफलता को, ऐतिहासिक असफलता को सफलता में परिणत करने के लिए कृत संकल्प है। भारती की कनुप्रिया में इसी युगबोध व आधुनिक बोध का गहरा संस्पर्श है। कवि ने युगीन संवेदना के अनुकूल नये सार्थक शब्दों की तलाश की है। एक ओर नारी धर्म की युगानुरूप विवेचना की है तो दूसरी ओर युद्ध के प्रति वितृष्णा का भाव जगाकर वर्तमान कालिक संकट के बीच नये सार्थक जीवन-मूल्यों को पहचाना है। कवि की सोच सहज प्रेम की तन्मयता पर है। वह सहजता में ही राधा के सहारे अनेक सार्थक प्रश्नों को उठाता है, जिससे कनुप्रिया काव्य कृति की संवेदना आधुनिक युग बोध की संवेदना हो जाती है।

रा. बा. उ. मा. वि. लक्ष्मीनाथ घाटी,
बीकानेर (राज.) 334001
मो. - 8619402147

●

उत्तरकुरु में इतिहास व लोक-संस्कृति

डॉ. सुधा ए. एस.

'उत्तरकुरु' कुबेरनाथ राय का निबंध संग्रह है। इसका प्रकाशन सन् 1994 में नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली से हुआ। इसमें सोलह निबंध संकलित हैं। इन निबंधों के शीर्षक इस प्रकार हैं : उत्तरकुरु और कदलीवन, उत्तरकुरु कमल, शकुन्तला : प्रतीक और अर्थ, भारतीय इतिहास की अप्सरा नाभि, चल मोरवा बारात रे, नदी पतित पावनी, नदी अप्सरा और भरतगण, यमुना साँवरी, खेलती नदी, नाग और किशोर, जखनी धान, अगरुवनों की पगध्वनि, अनार्यवर्त, जम्बूदीप, धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे, अँजुरी भर उत्सव। इन निबंधों में तीन निबंध उत्तरकुरु, अनार्यावर्त और जम्बूदीप तथ्य प्रधान हैं। लेखक ने इन्हें ललित प्रबंध कहा है। शेष तेरह निबंध भारतीय इतिहास और संस्कृति की समन्वय मूलक चिन्तनधारा के संदर्भ से जुड़े हुए हैं।

डॉ. प्रभाकर मिश्र, श्री राय की तुलना अज्ञेय से करते हैं। उनका कथन इस प्रकार है, "श्री राय का निबंध के प्रति भावात्मक दृष्टिकोण है और इसीलिए उसमें तारतम्य है, क्रम है और अन्विति भी। यही कारण है कि श्री राय का हिन्दी के आधुनिक निबन्धकारों में स्वतंत्र अस्तित्व है। उनके लेखन का मूल उत्स रस की तलाश है।... वस्तुतः श्री राय के निबंधों में लालित्य की बौद्धिकता है। बहुपठितता और विश्लेषण के साथ-साथ मन की गहराइयों में प्रवेश करने की उनकी क्षमता असीम है। वे अपनी पकड़ में गहन हैं और यह विशेषता श्री राय की बौद्धिकता और हार्दिकता के बीच सेतु जैसी दिखाई देती है। यही विशिष्टता जहाँ कुबेरनाथ राय को अज्ञेय के निबंधों की संवेदनीयता के साथ जोड़ती है, वहीं यत्र-तत्र दोनों का संतुलन खो जाने के कारण वह 'शक्ति' की सीमा भी बन जाती है।" (हिन्दी निबंध का इतिहास - मृत्यंजय उपाध्याय, पृ. सं. 223)।

श्री कुबेरनाथ राय ऊपर से पुरातन संस्कारगत परंपरावादी भारतीय सभ्यता और संस्कृति की जड़ों से लिपटे हुए ललित निबंधकार होने पर भी उनके विचारों में पूर्णतः आधुनिकता का बोध होता है। उन्होंने अपनी लेखन शैली द्वारा आधुनिक दृष्टि एवं नूतन युगबोध को मुखरित किया है। उनके कई निबंध व्यक्ति प्रधान निबंधों की श्रेणी में आते हैं तो कई निबंध ऐतिहासिक तथ्यों का परिज्ञान कराते हैं। वे परंपरा की पुनर्व्याख्या करते हैं, आधुनिक मूल्यबोध को महत्व देते हैं।

उनके निबंध संग्रहों की संख्या पन्द्रह है। रचनाकाल के क्रमानुसार वे इस प्रकार हैं - (1) प्रिया नीलकण्ठी-1960, (2) रस आखेटक-1970, (3) गंधमादन-1972, (4) निषाद बाँसुरी-1973, (5) विषाद योग-1974, (6) पर्ण मुकुट-1978, (7) महाकवि की तर्जनी-1979, (8) पत्र, मणिपुल के तर्जनी-1980, (9) मन पवन की नौका 1982, (10) किरात नदी में चन्द्रमधु--1983, (11) दृष्टि अभिसार-1985, (12) त्रेता का वृहात्साम-1985, (13) कामधेनु-1993, (14) मराल-1993 और (15) उत्तरकुरु-1994।

उपर्युक्त निबंधों का मंथन करने पर श्री राय के जीवन और साहित्य-दृष्टि के निदर्शन में उपलब्ध होनेवाले सूत्र ये हैं कि भारतीय साहित्य का सर्वश्रेष्ठ रूप वह है जिसमें चिन्मय तत्व की प्रतिष्ठा की गई है। वह सच्चे अर्थों में वाणी का क्षीरसागर है। साहित्य की भूमिका देशकाल की सीमा में आबद्ध इतिहास-बोध तक सीमित नहीं है। शील की च्युति आज की सबसे बड़ी समस्या है। प्रकृति और ईश्वर के साथ सामंजस्य स्थापित करके ही मनुष्य अपने जीवन को सार्थक बना सकता है। आधुनिक राजनीति और अर्थनीति की विसंगतियों को गांधी के सर्वोदय दर्शन के आधार पर सुलझाया जा सकता है।

'उत्तरकुरु' निबंध संग्रह की भूमिका में लेखक ने इस प्रकार लिखा है, "उत्तरकुरु प्रतीक है काव्यों और पुराणों में कल्पनालोक या इच्छालोक का और इतिहास-परंपरा से यह प्रतीक है भारतीय आर्यत्व के बीजस्थान का, उस आर्यत्व का जिसका प्रत्यक्ष संबन्ध-कुरु, पांचाल व राजस्थान-गुजरात के शौरसेनी अपभ्रंश के क्षेत्र से है और यही क्षेत्र हिन्दी-हिन्दुस्तानी भाषा और संस्कृति की निजी जन्मभूमि है परन्तु अप्रत्यक्ष संबंध समस्त उत्तर भारत के आर्य-भाषा बोलनेवाले जन समाज से है।" (उत्तरकुरु, कुबरेनाथ राय, पृ. 5)। वास्तव में उत्तरकुरु शीर्षक एक प्रतीक है। डॉ. के. एम. मायावंशी के अनुसार "लेखक को इस शीर्षक की प्रेरणा वाल्मीकीय रामायण और महाभारत के उद्योगपर्व के वर्णनों से मिली।" (कुबेरनाथ राय के निबंधों का आलोचनात्मक अनुशीलन - डॉ. के. एम. मायावंशी, पृ. 128)।

'उत्तरकुरु और कदलीवन' इस संग्रह का पहला निबंध है। निबन्धकार की राय में उत्तरकुरु देवताओं के मनोरंजन का स्थान है जहाँ वृक्षों के पत्ते और फल नित्य हैं, यौवन नित्य है, जरा और पतझर नहीं, रति का आत्मक्षयी रूप नहीं, वहाँ केवल शाश्वत किशोरवय मन है, मन के अनुसार सारी इच्छायें अपने आप पूर्ण होती जाती हैं। इस निबंध में श्री राय ने बताया है कि भारतवर्ष कर्म-भूमि है, यह मुक्त-भोग भूमि नहीं, यहाँ कर्म का बंधन है। भगवान तक यहाँ कर्म से मुक्त नहीं। योगी और माया के बीच हमेशा 'कदलीवन' में युद्ध होता है। कभी माया हारती है तो योगी जीतता है, कभी योगी हारता है तो माया जीतती है। मात्र भोगवाद हमारी संस्कृति और साधना का लक्ष्य नहीं हो सकता। इस प्रकार प्रस्तुत निबंध में एक भारतीय पौराणिक मन के कल्पलोक उत्तरकुरु की चर्चा की गयी है।

भारतीय संस्कृति में सर्मपित मानक मूल्यों की तात्विक मीमांसा करनेवाली इस रचना का 'उत्तरकुरु' नामकरण उसके दूसरे निबंध के नाम पर किया गया है। इस निबंध में 'उत्तरकुरु' की भौगोलिक सीमा के बारे में सुग्रीव के मुख से सीता की खोज में जानेवाले वानरों को बतलाया गया है। यहाँ निबन्धकार ने रामायण-महाभारत से प्राप्त वर्णनों को मौलिक रूप से दर्शाया है।

तीसरे निबंध का शीर्षक है "शैवाल में उलझा एक मुख कमल" जो बहुत संश्लेषणात्मक प्रकृति की भारतीय संस्कृति के महासमन्वय की उपज है। भारतीय इतिहास में आरंभिक काल से ही महासमन्वय की ऐतिहासिक प्रक्रिया चल रही है। यह देवोपम आर्यपुरुषों तथा अप्सराओं अर्थात् आर्येतर

जनजातीय कन्याओं की मिश्रित संतानों की संस्कृति है। कीचड़ में उगनेवाले कमल की बात से होकर, कमल शब्द की व्याख्या करते हुए लेखक ने राजा दुष्यन्त और शकुन्तला की चिरपरिचित प्रेमकथा के माध्यम से अपना मंतव्य व्यक्त किया है। चौथे निबंध "शकुन्तला : प्रतीक और अर्थ" में लेखक की अवधारणा है कि शकुन्तला भारतीय साहित्य में कामना और रसबोध का विशिष्ट प्रतीक है। प्रस्तुत निबंध में शकुन शब्द की व्याख्या करके शकुन्तला की प्रतीकात्मकता की ओर संकेत किया गया है। शकुन्तला, इच्छा शक्ति के वैष्णवी रूप का प्रतीक है, वह ललित और करुण दोनों ही है। पाँचवाँ निबंध "भारतीय इतिहास की अप्सरा नाभि" में अप्सरा शब्द की व्युत्पत्ति से होकर अप्सरा और नदी के माध्यम से दुष्यन्त के पूर्वजों और शकुन्तला के जन्म के साथ अनेक संस्कृतियों का परिचय एवं यक्ष, नाग, किन्नर, गंधर्व आदि आर्येतर मानवों के मिथकीय प्रारूप भी दिये गये हैं।

मोर की महिमा का गान करनेवाला निबंध है 'चल मोखा बारात रे'। भावनात्मक प्रतीक एवं मंगल चिह्न मोर को शगुन पक्षी माना जाता है। मोर के सौन्दर्य की व्याख्या करते हुए निबन्धकार ने इसे लोकधर्म और तंत्रधर्म के अनेक विश्वासों से जुड़ा पक्षी माना है। साहित्य में हंस आत्मा का प्रतीक है तो मयूर मन का प्रतीक है। लेखक की अनुसन्धान वृत्ति का स्पष्ट परिचायक है यह निबंध। 'नदी पतित पावनी : नदी मत्स्यगंधा' में नदी और नारी की प्रकृति की समानता पर विचार करते हैं। इसमें नदी के अनेक रूपों की चर्चा है, जल के महत्व की व्याख्या है, गंगा और विष्णु की चर्चा है। लोक संस्कारों में पवित्रता, उद्धार, मोक्ष और वैराग्य का बिंब रचनेवाली गंगा नदी के महत्व को इस प्रकार स्पष्ट कर दिया गया है कि गांगेय संस्कृति ही भारतीय संस्कृति का मूल्य बीज है। 'नदी अप्सरा और भरतगण' में गंगा, यमुना जैसी नदियों का सूर्य और चन्द्र वंशों से संबंध शोधात्मक वृत्ति का सहारा लेकर प्रस्तुत किया गया है। निबंधकार की यही राय है कि गंगा नामकरण किरातों, निषादों ने किया है। "यमुना साँवरी" में यमुना नदी का पौराणिक महत्व प्रतिपादित है। यमुना और कृष्ण का जो संबंध है उसे एक अलग ढंग से स्थापित करते हैं कि महाकाव्यों में राधा को कृष्ण की आत्मा और कालिन्दी को उनका मन माना है। 'खेलती नदी नाग और किशोर' में राय जी पुनः यमुना नदी का स्मरण करते हैं। कालिया नाग के आतंक और किशोर कृष्ण के द्वारा कालिया नाग के नाथने की बात को पौराणिक कथाओं के आधार पर अलग ढंग से स्पष्ट करते हुए आज के संदर्भ से जोड़कर निबंधकार लिखते हैं, "आज का समाज शिश्नोदर की उपासना को चरम लक्ष्य मान चुका है। भाषा और नारी के प्रति उसकी दृष्टि अत्यंत हिंसक है। ऐसी स्थिति में आज हमारे लिए जरूरी है, परिश्रमी मानसिकता को निरंतर उधार लेने की जगह अपने देशी मानसिक उत्तराधिकारों की चिंता करें। आज संपूर्ण भारत वर्ष द्वापर से गुजर रहा है। सारी मानवीय संस्कृति अपस्मार के आवेश से पीड़ित है, इससे मुक्ति पाने के लिए हमें नटराज की प्रार्थना करनी होगी।" (उत्तरकुरु, पृ. 69-70)।

'जखनी-थान' में वाराणसी जनपद के देवी देवताओं, यक्षों गन्धर्वों और अप्सराओं की पूजा होनेवाले देवस्थानों की बात है। निबंधकार का कथन है कि काशी क्षेत्र में आदिम युग में यक्ष का उल्लेख मिलता है। यहाँ की यक्षिणी भी अपने मूल रूप में आदिम जनजातियों की कुलदेवता रही होगी। 'अगरुवनों की पगध्वनि' में लेखक ने मणिपुरी नृत्य की व्याख्या की है। इन नृत्यों से प्रेम और रोमांस की बात जोड़कर ललित्य बोध के साथ असमियाँ संस्कृति की भी बातें की गयी हैं। इन नृत्यों से मनुष्यों के भीतर की देवशक्ति जाग्रत हो उठती है। इसके बारे में वे लिखते हैं कि मणिपुरी लोग, आज वैष्णव हो गए हैं। प्रत्येक मणिपुरी आँगन में तुलसी वृक्ष, सहन में

चंपे के झाड़ और पृष्ठभूमि में केले का बाग अवश्य रहता है।" (उत्तरकुरु, पृ. 86)।

'अनार्यवर्त' निबंध में कुबेरनाथ राय ने नृतत्व शास्त्र, भाषाशास्त्र और समाजशास्त्र के आधार पर यह सिद्ध किया है कि आज के भारतीय संदर्भ में दक्षिणवालों का 'द्रविड़ जातिवाद' का नारा उतना ही खोखला है जितना कि उत्तर भारतियों का 'आर्य जातिवाद' का। 'जम्बूदीप' में जम्बूद्वीप के इतिहास भूगोल और भारतवर्ष के साथ उसके संबंध पर चर्चा की गयी है। तीन भागों में विभाजित इस निबंध में जम्बूदीप का पौराणिक एवं ऐतिहासिक महत्व बताने का प्रयास है। 'धर्म क्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' में राय जी की यही राय है कि 'महाभारत' हमारा इतिहास है और 'रामायण' काव्य है। महाभारत यथार्थ है तो रामायण आदर्श है। महाभारत युद्ध को आधुनिक संदर्भ से जोड़कर महात्मा गांधी के उस कार्य को इसके साथ जोड़ा है जिसमें उन्होंने अखण्ड भारत का स्वप्न देखा था। "अंजुरी भर उत्सव" इस संकलन का अन्तिम निबंध है, जिसमें वसंत पंचमी के ब्याज से भारतवर्ष की उत्सवधर्मिता का प्रकाशन किया गया है। इसमें सरस्वती पूजा के महत्व की चर्चा भी है।

कुबेरनाथ के महत्वपूर्ण निबंध संग्रह 'उत्तरकुरु' में संकलित सभी सोलह निबंध अलग-अलग विषयों को लेकर लिखे गये हैं। इन निबंधों के द्वारा उन्होंने भारत के सांस्कृतिक इतिहास, उसके धार्मिक पौराणिक विश्वास एवं मानवीय मूल्यदर्शिता की पुनः पहचान का प्रयास किया है। इन निबंधों के अध्ययन से हम इच्छालोक और कल्पना लोक में भ्रमण करके भारतीय संस्कृति में समर्पित मानव मूल्यों की तात्विक मीमांसा करके इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'उत्तरकुरु' आर्य और अनार्य संस्कृति के समन्वय की महागाथा है तथा इतिहास, लोक संस्कृति और मौलिक दृष्टि की त्रिवेणी है। श्री राय ने इन निबंधों के लिए विषयानुकूल एक ऐसी भाषा का निर्माण किया है जिसमें कविता का लालित्य, सरसता और ज्ञानमंडित गांभीर्य का मणिकांचन संयोग है।

सहायक ग्रंथ

1. उत्तरकुरु - कुबेरनाथ राय। **2.** कुबेरनाथ राय : परिचय और पहचान - सं. राजीव रंजन। **3.** कुबेरनाथ राय के निबंधों का आलोचनात्मक अनुशीलन - डॉ. के. एम. मायावंशी। **4.** स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी निबंध-साहित्य के विकास में कुबेरनाथ राय का योगदान - डॉ. रवीन्द्र ब्रजवासी राय। **5.** हिन्दी निबंध का इतिहास-मृत्युंजय उपाध्याय। **6.** प्रतिनिधि हिन्दी निबंधकार - डॉ. हरिमोहन। **7.** निबंध और विविध गद्य - डॉ. राजेन्द्र मिश्र, डॉ. देव सिंह राठौर।

एसोसिएट प्रोफेसर - हिन्दी विभाग,
यूनिवर्सिटी कॉलेज,
तिरुवनन्तपुरम (केरल) - 695034
मो. - 9497853785
ईमेल-sudhamadhusoodhanan746@gmail.com

कर्त्तात्रयी

गीता की दृष्टि से तीन प्रकार से कर्ता होते हैं-- **सात्विक कर्त्ता --** जो आशक्ति रहित है। अहंकार रहित है। धैर्य व उत्साह से भरा है। सफलता का विकार नहीं-- यानी गर्व नहीं। असफलता का विकार नहीं- यानी हताशा नहीं। दोनों में निर्विकार।

राजसकर्त्ता -- जिसमें हर्ष है और शोक है। जो हिंसात्मक है। जो मलिन है। जो फल का लोभी है। जो रागी है। जो लोभी है।

तामसकर्त्ता -- जो चंचल चित् है। जो असंस्कारी-- उजड्ड है। जो कपटी है। जो आलसी है। जो सदा शोकाकुल रहता है। जो करने योग्य कार्य को टालता-आगे पर सरकता है- यानी दीर्घसूत्री है। जो असभ्य है। ठग है। दूसरी की वृत्ति को काटनेवाला है- विघ्नसंतोषी है।

हम यदि भीतर झांककर जांचें अपने को तो प्रायः हमें लगेगा हम तामस तो नहीं-- राजस कर्त्ता हैं। जब जरा 'मैं' को मिटाने की इच्छा करें, धीरज रखें, शुभ कामों में न लगावें, अपना काम करते हुए पराए के काम में भी रुचि लेना शुरू करें तो हमारे भीतर सात्विक कर्त्ता झांकने लगेगा। इस प्रकार सोपानों पर चढ़ते हुए संभवतः त्रिगुणातीत के लक्ष्य को भी पा जायें।

(भगवद्‌गीता)

वैश्विकता और दलित साहित्य

डॉ. रमेश कुमार

नयी सदी का अंधा भौतिक विकास चरम गति पर है। वैश्विक स्तर पर प्रौद्योगिकी, विज्ञान-तकनीक का अद्‌भुत विकास मनुष्य को चकाचौंध कर देने वाला है। आज के भौतिक युग में मानवीय सभ्यता और संस्कृति के उदात्त मूल्यों का ध्वंस जारी है। अनन्त गति और असीम विकास के मन्त्र ने मनुष्य को ब्रह्माण्ड का शक्तिशाली पात्र बना दिया है। आज की वैश्विक दुनिया में उदारीकरण, निजीकरण, विश्य पूँजी प्रवाह, बहुराष्ट्रीय कंपनियों का दबदबा बढ़ रहा है क्योंकि भूमण्डलीकरण के दौर में एक नई विश्व अर्थव्यवस्था केन्द्र में है। वैश्विक बाजारवाद ने आर्थिक स्तर पर समूचे देशों को परस्पर जोड़ दिया है। भौगोलिक, क्षेत्रीय या प्रादेशिक सीमाएँ गौण हो चुकी हैं, कहने का तात्पर्य है कि समूचा विश्व एक है। किन्तु दुनिया के करीब 50 देश ऐसे भी हैं जो अत्यंत गरीब तथा पिछड़े हुए हैं। वैश्विक दौर में अमीर और गरीब दोनों के बीच विभाजक रेखा विषम बन रही है। विश्व स्तर पर अफ्रीका और एशिया के देशों की एक बड़ी आबादी बेरोजगारी, भुखमरी, कुपोषण, असाध्य बीमारी, निरक्षरता आदि की शिकार होने वाली है जो प्रतिदिन घट रही है। भारत में भूमण्डलीकरण का लाभ बड़े उद्योगपतियों, नव पूंजीपतियों और सम्पन्न उच्च-मध्यम वर्ग को प्राप्त हो रहा है। देश में गरीबी की रेखा पर जीवन यापन करने वाली करीब 30 करोड़ आबादी भूख, गरीबी और कुपोषण से ग्रस्त बनी हुई है। अतः इससे सिद्ध होता है कि हमारा वैश्विक समाज विखंडित है, हम इसे विखंडन के माध्यम से जान सकते हैं। आर्थिक वैषम्यपूर्ण विभेदता लगातार विकट बन रही है। आतंक हिंसा का दौर जारी है। आर्थिक प्रभुता और साम्राज्यवादी देशों का एकछत्र आधिपत्य विस्तृत बन रहा है। बहुलतावाद और अराजकता का परिवेश चिंता का विषय बना हुआ है।

उत्तर आधुनिकता को नयी सदी का चिंतन कह सकते हैं। मार्क्स और साम्यवादी व्यवस्था के विफल हो जाने के पश्चात अनेक आन्दोलनों का जन्म हुआ जो उत्तर आधुनिक विमर्श के आधार बने। सोवियत संघ के विघटन के पाश्चात विश्व में एकमात्र ध्रुवीय पूँजीवादी व्यवस्था का बोलबाला है क्योंकि उत्तर आधुनिक समाज ने अपने कलेवर में उपभोक्ता संस्कृति, बाजारवाद और उदारीकरण को अपना लिया है। स्पष्टतः वैश्विक दुनिया में भूमंडलीकरण के नाम पर उत्तर पूँजीवादी नव साम्राज्यवाद स्थापित है। देश की समस्त

राजनीतिक पार्टियों ने चाहे ये सत्ता पक्ष में हो या विपक्ष में, उन्होंने विश्व पूँजी, बाजारवाद और उदारीकरण को खुला समर्थन दे दिया है। सत्ता और विश्व पूँजीवाद व शोषण के खिलाफ मात्र साहित्य, विशेषकर दलित साहित्य खड़ा है। साहित्य के नए विमर्श में हाशिए के लोग दलित, वंचित, शोषित, उपेक्षित स्त्री, अश्वेत, आदिवासी, जनजातियाँ, मूलवंशी समूह और हर प्रकार के विषमगामी लोग, घुमंतू खानाबदोश, दिव्यांग, फुटपाथों के गरीब जन और श्रमिक इसके केन्द्र में आ गए। यह कहना सही होगा कि दलित साहित्य में समाज के सबसे दुर्बल उपेक्षित, वंचित दरिद्र तथा शोषित वर्ग की आर्थिक संवेदना को अभिव्यक्ति मिली। दलित साहित्य में कलावादी, रुमानी, मध्यम वर्गीय और अभिजात्यवादी सौन्दर्य दृष्टि पर तीखा हमला बोला गया। दलित साहित्य में अम्बेडकरवादी जीवनदृष्टि है जिसने वर्षों के वर्ग, जाति, रंग एवं वर्ग के समस्त भेदभावों को नकारा था। दूसरे शब्दों में कहें -- दलित साहित्य का वैचारिक आधार अम्बेडकरवाद है। डॉ. अम्बेडकर भारतीय संविधान के प्रमुख शिल्पी रहे हैं जिन्होंने भारत में लोकतांत्रिक पद्धति का विधान दिया। भारतीय दलित साहित्य जनतांत्रिक पद्धति को अपनाता है तथा शोषण अन्याय और विषमता पर प्रहार करता है।

दलित साहित्य के आन्दोलन में डॉ. अम्बेडकर के तीन सूत्र मान्य हैं- शिक्षा, संगठन और संघर्ष। स्वातंत्र्योत्तर काल में सर्वप्रथम मराठी दलित साहित्य ने श्रमजीवी समाज की दलित जातियों, मेहनतकश आदिवासी जन, पिछड़ी जातियों, मजदूरों-किसानों, शिल्पकारों, असंगठित मजदूरों, शोषित नारी के जीवन संघर्ष को यथार्थ ढंग से व्यक्त किया। मराठी में दलित साहित्य का पहला ऐसा आन्दोलन है जिसमें जीवन की कलावादी नकली सौन्दर्य दृष्टि, अभिजात्यवाद और शस्त्रवाद के खिलाफ विद्रोह था। मराठी के दलित साहित्य ने दलितों के अतीत और वर्तमान के शोषण, अन्याय अत्याचार, अंध-श्रद्धाओं तथा आर्थिक अभावों की यातना के प्रति विद्रोह तथा क्रांति का नगाड़ा बजा दिया। इस दलित साहित्य ने आर्थिक समता, मानवीय समानता, सामाजिक भ्रातृत्व, मानवीय स्वतंत्रता तथा न्याय के मूल्यों को केन्द्रित किया। मराठी के दलित लेखकों में प्रमुख रहे हैं -- नामदेव ढसाल, केशव मेश्राम, दया पवार, अर्जुन डांगले, त्र्यंबक सकपाले, यशवंत मनोहर, अरुण कांबले, नारायण सुर्वे, राम दोतोंडे, राजेन्द्र सोणवने आदि। इन लेखकों ने दलित एवं शोषित वर्ग के अधिकारों का न केवल समर्थन किया बल्कि सामाजिक परिवर्तन को गतिमान किया। विश्व में नीग्रो जाति का रंगभेद तथा नस्लभेद के आधार पर शारीरिक-मानसिक शोषण का लंबा इतिहास रहा। यह उसी तरह हुआ जैसे नीग्रो साहित्य ने औपनिवेशिक शासन के आतंक, शोषण और रंग-नस्लभेद को नकारा तथा विद्रोह किया। नीग्रो साहित्य में काले मनुष्य का रक्त स्पंदन, कारावास के अत्याचार प्रताड़ना की वेदना, यौन शोषण, अमानुषी अत्याचार तथा भूख और गरीबी के अमानवीय दृश्य को व्यक्त किया। नीग्रो साहित्य के लेखकों में प्रमुख रहे हैं - क्रिस्टोफर, ओकिगबू, जे.पी. क्लार्क, ग्रेबियल ओकारा, आकागबुले, बोले शोंयिका, लियोपाल्ड सेडार सेंघोर, डिओपे कोपी अबूनुर आदि। इक्कीसवीं सदी का हिन्दी दलित साहित्य भी अम्बेडकरवादी क्रांतिकारी विचारधारा को अपनाकर सृजनात्मक कार्य में अग्रसर हुआ।

हिंदी दलित साहित्य का भी अभिप्राय ऐसे साहित्य से है जिसमें समाज के सबसे उपेक्षित, वंचित, दरिद्र तथा शोषित वर्ग की मार्मिक समस्याओं का अंकन हो। यह भी आवश्यक है कि लेखकों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से दलित एवं शोषित वर्ग के अधिकारों के प्रति जागरूकता तथा उनकी मानवीय संवेदना को अभिव्यक्ति प्रदान की। नयी सदी का दलित साहित्य अपनी वस्तु, संवेदना, परिवेश,

विचार, भाषा और शैली की दृष्टि से भिन्न रहा। दलित लेखकों ने श्रमण संस्कृति के नायक बुद्ध, सिद्ध-नाथ, निर्गुण संत परम्परा, समाज-सुधारक ज्योतिबा फुले, पेरियार और आधुनिक लोकतांत्रिक मूल्यों के संस्थापक डॉ. अम्बेडकर के चिंतन-मनन को स्वीकारा। यह सही है कि गैर दलितों के साहित्य में दलितों के प्रति सहानुभूति अवश्य रही, जबकि दलित लेखकों की रचनाएँ स्वयं के अनुभूत सत्य, अतीत-वर्तमान के दुःखद त्रासद तथा स्वानुभूति का भाव व्यापक है। हिंदी दलित साहित्य में कविता, कहानी, निबंध, उपन्यास, आत्मकथा और जीवनी जैसी विधाओं में सृजन प्रारंभ हुआ। इक्कीसवीं सदी की हिंदी दलित कविता अपने युग जीवन को अभिव्यक्ति प्रदान करती है। दलित कविता के प्रमुख संकलन इस प्रकार हैं - ओमप्रकाश वाल्मीकि (सदियों का संताप, बस्स ! बहुत हो चुका, अब और नहीं, शब्द झूठ नहीं बोलते), सुरेश चन्द्र (हम उन्हें अच्छे नहीं लगते), सुशीला टाक भौरे (यह तुम भी जानो), जय प्रकाश कर्दम (गूंगा नहीं था मैं), कुसुम वियोगी (टुकड़े-टुकडे दंश), चिरंजीव कटारिया (शब्द थके जरूर हैं), ईश गंगानिया (हार नहीं मानूंगा), एन. सिंह (सतह से उठते हुए), पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी (मूक माटी की मुखरता), भीमसेन संतोष (शोषित कहे पुकार के), चंद्रमान (इरादे तभी करवट लेते हैं), गोविंद प्रसाद (ऐसा कोई शब्द दो), हरपाल सिंह 'अरुष' (भीमा और मुरझाई कपास) आदि। वर्तमान दलित कविता में भूमंडलीकरण और बाजारवाद से सामाजिक आर्थिक विषमताओं तथा अमानवीयता का प्रतिरोध भी हुआ। हाशिए पर रहने वाले ऐसे अनेक समुदाय जैसे नट, मदारी, बंजारे, कंजर आदि हैं जो संदियों से वंचित तथा उपेक्षित समुदायों में रहते आए हैं। उनके दुःख-दर्द, संघर्ष, श्रम, कर्म और कला को पहचाना जा रहा है। दलितों में महादलित खानाबदोश लोग हैं जिनका न कोई घर होता है, न कोई गाँव, न कोई शहर। ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता खानाबदोश लोगों पर प्रकाश डालती है-- *'जिनके चेहरे किसी को याद नहीं रहते / याद रहते हैं बरसों-बरस / उनके बनाए चाकू / छुरे, दरांत / हल की फाल/ जो जिंदा रहते हैं / रसोई में / दालान में / खेत में / हल को पकड़ने वाली खुरदरी हथेली में/ जब-जब धार कुंद पड़ती है/ याद आते हैं सिर्फ उनके हाथ / जिनका कोई घर नहीं होता।'* (शब्द झूठ नहीं बोलते, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ. 84)। इक्कीसवीं सदी में भी दलितों की हत्याएं, अग्निकांड और सामूहिक अत्याचार, दलित एवं आदिवासी स्त्रियों से बलात्कार तथा उन्हें नग्न करके घुमाना मानवता पर कलंक है। झज्जर के दुलीना गांव में दलितों को जिंदा जलाया, गोहाना और निर्चपुर में 'ऑनर किलिंग' की पाशविकता, गुजरात में गौहत्या के झूठे मामले में दलितों पर हिंसक तथा अमानुष व्यवहार, धर्मांधता और कट्टरता के परिवेश में मानवता शेष नहीं रही। विकास के नाम पर आदिवासी जन अपनी भूमि, खेत, खलिहान और घर से विमुख किए जा रहे हैं -- *'खदेड़ते रहे हमारे ही जंगलों से हमें/ उजाड़ते रहे विकास के नाम पर हमारी बस्तियाँ / बसाने के नाम पर ठेलते रहे हाशिए पर।* (निर्मला पुतुल-अम्बेडकरवादी युवा कविता विशेषशांक 'अपेक्षा'-12. पृ. 58)।

नयी सदी के दलित साहित्य में उपन्यास विधा महत्वपूर्ण है। 'मुक्ति पर्व' उपन्यास में मोहनदास नैमिषराय ने स्वाधीनता के पूर्व दलितों की आर्थिक-सामाजिक स्थिति का उद्घाटन किया है। दलितों की गरीबी, अशिक्षा, अभाव और जाति विषमता के प्रश्नों को उठाया है। स्वाधीन भारत में दलितों ने पहली बार मानवीय अधिकार प्राप्त किए, शिक्षा के महत्व को जाना तथा अपनी मुक्ति का मार्ग स्वयं खोजा। इस उपन्यास में 'सुनीत' पात्र प्रशासन के पद पर न जाकर शिक्षा के द्वारा गरीब बच्चों को शिक्षित बनाता है तथा दलितों की नयी पीढ़ी को संघर्ष का मार्ग बतलाता है। दलित समाज में मुक्ति पर्व तभी

मनेगा जब शोषण तथा अन्याय का कुचक्र टूटेगा। उमराव सिंह जाटव का उपन्यास 'थमेगा नहीं विद्रोह' स्वाधीन भारत में व्याप्त सामंती शोषण, अंधश्रद्धा, अशिक्षा और गरीबी का यथार्थ चित्रण है। रूपनारायण सोनकर का उपन्यास 'डंक' मूलतः प्रतीकात्मक है जो जातिवादी जहर, छुआछूत का पाखण्ड, ऊंच-नीच की असमानता, साम्प्रदायिकता के रंग, आदिवासी जन का भयावह शोषण और पूँजीवादी समाज के नाना शोषण को उजागर करता है। कावेरी के 'मिस रमिया' उपन्यास में कावेरी पात्र दलित-पिछड़े समाज को संगठित करके सामूहिक लड़ाई लड़ती है क्योंकि तभी दलित अपने उद्देश्य में सफल हो सकेंगे। मोहनदास नैमिषराय के उपन्यास 'आज बाजार बंद है' में समाज की ज्वलंत समस्या वेश्यावृत्ति का चित्रण है। उपन्यास में औरतों की लाचारी, गरीबी और शोषण का भयावह संसार उभरता है। हाशिए पर रहने वाली औरतों की मनुष्यता तथा मानवीय संवेदना को लेखक ने दिखलाया है। डॉ. धर्मवीर का उपन्यास 'पहला खत' में उपभोक्ता संस्कृति की विलासिता, स्त्री-पुरुष के प्रेम, सेक्स और विवाह के प्रश्नों को समकालीन सन्दर्भों में उठाया गया है। सत्यप्रकाश के उपन्यास 'जस-तस भई सवेर' में लोकतांत्रिक ढंग से दलितों के सामाजिक, प्रशासनिक और राजनैतिक प्रश्नों पर ध्यानाकर्षण हुआ है। इसी प्रकार जय प्रकाश 'नवेंदु' के उपन्यास 'दोहन' में ग्रामीण परिवेश में दलितों के दोहन का चक्र है जहाँ न शिक्षा है, न गरीबी से मुक्त होने का कोई उपाय। बाढ़ में बहते खेत, घर और खलिहान के दृश्य करुणा तथा दर्द से भरे हुए हैं। भूख और यातना के चित्र द्रवित करने वाले हैं। प्रेम कपाड़िया के उपन्यास 'मिट्टी की सौगंध' में भूमिपतियों और भूमिहीन दलितों के आपसी संघर्ष को व्यक्त किया गया है।

इक्कीसवीं सदी की समकालीन दलित कहानियों की मूल संवेदना में शोषित-पीड़ित लोगों की वेदना, निरन्तर संघर्ष करने की अदम्य जिजीविषा, शोषण के हर तंत्र पर प्रहार तथा अत्याचारों का प्रतिरोध, सामंती-पूँजीवादी उत्तर-पूँजीवादी व्यवस्था से उत्पन्न आर्थिक विषमता के प्रति विद्रोह, सवर्ण समुदाय की अमानवीय प्रथाओं तथा रुढ़ियों पर प्रहार, दलितों के संवैधानिक तथा मानवीय अधिकारों को प्राप्त करने तथा स्वस्थ समाज के निर्माण में विशेष भूमिका का निर्वाह है। दलित कहानीकार व कहानी संग्रह इस प्रकार से हैं - ओमप्रकाश वाल्मीकि (सलाम, घुसपैठिए), रत्नकुमार सांभरिया (हुकम की दुग्गी, काल तथा अन्य कहानियाँ, खेत तथा अन्य कहानियाँ, दलित समाज की कहानियाँ), मोहनदास नैमिषराय (आवाजें), सूरजपाल चौहान (हैरी कब आएगा), कावेरी (द्रोणाचार्य एक नहीं), सुशीला टाक भौरे (टूटता वहम, अनुभूति के घेरे, संघर्ष), जयप्रकाश कर्दम (तलाश), दयानंद बटोही (सुरंग), बुद्धशरण हंस (देव साक्षी, तीन महाप्राणी), कालीचरण प्रेमी (गिरोह का आदमी), भवानी सिंह (एक गांव की मौत), रतन वर्मा (दस्तक, नेटुआ और पेइंग गेस्ट), कुसुम वियोगी (चार इंच की कलम), शत्रुघ्न कुमार (हिस्से की रोटी) आदि ।

दलित साहित्य में आत्मकथाओं ने अपनी अलग पहचान बनाई है। दलित लेखकों ने अपनी जीवन की भोगी हुई यातनाओं, संघर्षों को आत्मकथाओं के माध्यम से व्यक्त किया। दलित समाज की अस्मिता, उनका संघर्ष और विषमता का गहरा बोध ये आत्मकथाएं देती हैं। इनमें मोहनदास का आत्मवृत्त 'अपने-अपने पिंजरे', ओमप्रकाश वाल्मीकि का 'जूठन', सूरजपाल चौहान का 'तिरस्कृत एवं संतप्त', माता प्रसाद का 'झोपड़ी से राजभवन तक, कौशल्य वैसंत्री का 'दोहरा अभिशाप', श्योराज सिंह का 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर', रूपनारायण सोनकर का 'नागफनी', तुलसीराम का 'मुर्दहिया', धर्मवीर का आत्मवृत्त 'मेरी पत्नी और भेड़िया', सुशीला टाकभौरे का 'शिकंजे का दर्द' आदि प्रमुख हैं। इन

आत्मकथाओं में दलितों की अस्मिता और वर्णवादी संस्कृति का प्रतिरोध, शास्त्र की जड़ताओं पर कुठाराघात, अन्याय और अपमान के खिलाफ विद्रोह, अंधश्रद्धा एवं अज्ञानता के प्रति नकार, जाति-दंश के प्रति क्रांतिकारी चेतना, तमाम अमानवीय यातनाओं के प्रति आक्रोश और मनुष्यता के प्रति मानवीय सद्भाव उभरता है। कुल मिलाकर मराठी का दलित साहित्य और हिन्दी का इक्कीसवीं सदी का दलित साहित्य मानवीय स्वतंत्रता, आर्थिक न्याय, सामाजिक समता, मानवीय समानता और भातृत्व का जीवंत उदाहरण है। अब भारतीय साहित्य के केन्द्र में दलित साहित्य प्रमुख प्रवृत्ति बन चुका है।

एसोसियेट प्रोफेसर हिंदी विभाग,
ज.ने. रा. महाविद्यालय,
पोर्ट ब्लेयर-744 103 (अण्डमान तथा निकोबार द्वीप समूह)
मो.- 09476030843
ईमेल : rk1966s@rediffmail.com

इनसे बचें

पात्र, कुपात्र, सुपात्र पर विचार करना– यह केवल व्यवहार का प्रश्न ही नहीं है– मनोविज्ञान की भी सच्चाई है।

जिसको प्यास नहीं है, उसको पानी पिलाना बेमाने है। बीमारी बिना दवाई का क्या उपयोग है।

हम इच्छी बातें करते हैं, संत-महंत उपदेश देते हैं, पर– सामने वाला इसके लिए तैयार है या नहीं। दूसरी ओर यह भी कहना है– हमें बीज-अच्छे बीज फेंकने चाहिए। कई उगेंगे, कई जलेंगे, कई सड़ेंगे और कइयों को पक्षी युग जाएंगे। पर, नीति यह है, हमें पात्र-सुपात्र का विचार करना चाहिए।

हमारे नीतिकार कहते हैं– इन दस को उपदेश देकर अपना समय मत बर्बाद करो। ये उपदेश सुनने के अयोग्य है।

मत्त, प्रमत्त, उन्मत, श्रांत, क्रुद्ध, बुभुक्षित (भूखा), त्वरमाण (हड़बड़िया, उतावला), लुब्ध (लोभी), भीत (डरा हुआ) और कामी।

मत्त का अर्थ है– जो नशे में है। वह सुनकर समझेगा नहीं। प्रमत्त का अर्थ है– असावधान, गफलत में रहने वाला– वह आधा सुनेगा और आधा ऊट-पटांग सुनेगा। उन्मत्त तो पागल है, बावला है– उसे उपदेश नहीं, इलाज की जरूरत है। जब कोई गुस्से में आया हुआ है– वह सुनने के लिए तैयार नहीं है, वह जब शांत हो जाये तब बात करें। श्रांत, थका हारा है, उसे विश्राम चाहिए। बुभुक्षित को उपदेश मत दो– उसको खिलाओ और खाने का पक्का प्रबंध करो– यही सच्चा उपदेश है। त्वरमाण को जरा धीरज रखने वाला बनायें, तब वह उपदेश के लिए सुपात्र बनेगा। लोभी और कामी जीवन भर सुनकर भी न लोभ छोड़ेंगे, और न भोग की भावना से हटेंगे। भीत-जो डरा हुआ है, उसके लिए सुरक्षा का उपाय करें– यही प्राथमिक उपदेश हैं।

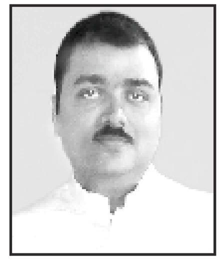

हिन्दी साहित्य में स्त्री-विमर्श : लक्ष्य और भटकाव

अभिजीत सिंह

"स्त्री पैदा नहीं होती, बल्कि उसे बना दिया जाता है।"[1] सिमोन की यह पंक्ति स्त्रीविमर्श का आधार है। स्त्री-विमर्श मात्र सामाजिक स्तर पर स्त्री की मुक्ति की मांग नहीं करता। स्त्री को आर्थिक और पारिवारिक मुक्ति भी दिलाने की माँग करता है। भारत में और मुख्यतः हिन्दी साहित्य में स्त्री विमर्श को समझने से पहले जरूरी है कि हम विश्व स्तर पर नारीवादी धारा के उत्थान और उसके पुरोधाओं के बारे में संक्षिप्त में जान लें। नारीवादी आन्दोलन मुख्यतः ग्रेट ब्रिटेन और अमेरिका में शुरू हुआ था। इसकी जड़ें 18वीं सदी के मानवतावाद और औद्योगिक क्रांति में थी। नारीवादी आन्दोलन वास्तव में 1848 में ही शुरू हुआ, जब एलिजाबेथ कैडीस्टैंडन, लुक्रेसिया कपिन मोर और कुछ अन्य ने न्यूयार्क में एक महिला सम्मेलन कर के नारी स्वतंत्रता पर एक घोषणा पत्र जारी किया जिसमें पूर्ण कानूनी समानता, पूर्ण शैक्षिक और व्यावसायिक अवसर, समान मुआवजा और मजदूरी कमाने का अधिकार तथा वोट देने के अधिकार की मांग की गई थी। 1848 के ही संदर्भ में हमें यह भी बात याद रखनी होगी कि स्त्री-विमर्श की शुरुआत मात्र पश्चिम में ही नहीं बल्कि हमारे देश में भी सावित्रीबाई फुले और ज्योतिबा फुले के माध्यम से हो चुकी थी। 1848 में शूद्र जाति की स्त्रियों को शिक्षा देने के लिए इन दोनों ने गृह त्याग किया था।

अमेरिका में जब 1920 में नारी मताधिकार की जीत हासिल कर ली गई तब महिलाओं में पुरुष के समकक्ष बराबरी के सवाल को लेकर दो खेमे बन गए। एक खेमा राष्ट्रीय महिला पार्टी का था जो सभी क्षेत्रों में पुरुषों के समकक्ष स्त्रियों की बराबरी की वकालत करते आंदोलनरत था जबकि दूसरा खेमा यह कहता था कि महिलाओं के समान अधिकारों के लिए 1946 में संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा एक आयोग का गठन किया गया है और उसके अनुसार ही, आन्दोलन से इतर नारी-अधिकारों को संवैधानिक मान्यता दी जाए। 1970 के आसपास अमेरिका का नारीवादी आन्दोलन अपने लक्ष्य से भटकता सा जान पड़ा। केट मिलेट की पुस्तक 'सेक्सुअल पॉलिटिक्स' और जर्मन ग्रियर की पुस्तक 'फीमल युनक' ने आन्दोलन को इतना अतिवादी रूप दिया कि सड़कों पर चोलियों की होली जलने लगी।

भारत की आरम्भिक आन्दोलनकर्ताओं में प्रमुख थी पंडिता रमाबाई और सावित्रीबाई फुले। दोनों ही 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में सक्रिय रहीं। पंडिता रमाबाई ने स्त्रियों के अधिकारों

के लिए संघर्ष किया तो सावित्रीबाई फुले ने स्त्रियों की शिक्षा के लिए महत्वपूर्ण काम किए। एक तरह से हम उन्हें देश की पहली शिक्षिका कह सकते हैं। सावित्रीबाई के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुए पद्मा पाटिल कहती हैं, "सावित्रीबाई फुले यानी असामान्य त्याग, असीम निष्ठा, श्रद्धा, अखण्ड परिश्रम, मूल्यों की रक्षक, अत्यंत साहसी तथा शूद्र और अतिशूद्रों के लिए प्रगतिशील दृष्टि से लड़ने वाला क्रांतिकारी व्यक्तित्व है।"[2]

भारत में इस चेतना का असर राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, पंडिता रमाबाई और सावित्रीबाई फुले आदि में दिखाई पड़ता है। इसी तरह नारी अस्मिता को लेकर हिन्दी साहित्य में एक विस्तृत विचार विमर्श की पृष्ठभूमि तैयार करने का श्रेय महादेवी वर्मा को जाना चाहिये। महादेवी में सिर्फ अज्ञात सत्ता के प्रति आकर्षण नहीं है बल्कि इस आकर्षण के क्रम में वे इस लोक में भी संचरण करती हैं। वे अपने ज्ञान क्षेत्र और भाव क्षेत्र का उपयोग स्त्रीमुक्ति के लिये करना चाहती हैं। 1942 में नारी की इस मुक्ति की कामना के साथ महादेवी जी 'शृंखला की कड़ियाँ' की रचना करती हैं। उल्लेखनीय है कि यह कृति 'द सेकेंड सेक्स' के पहले की रचना है। अतः यह स्पष्ट है कि यह पश्चिम की नारीवादी चेतना से उभरी उसी लहर की परिणति नहीं है। महादेवी जी की 'स्मृति की रेखायें' और 'अतीत के चलचित्र' इसकी प्रमुख कड़ियाँ हैं।

स्वातंत्र्योत्तर काल में महिला कथाकारों की एक सशक्त पीढ़ी तैयार हुई, जिसने अपने रचना संसार में स्त्री अस्मिता के प्रति चेतना दिखाई। मन्नू भंडारी (यही सच है, त्रिशंकु, आपका बंटी), कृष्णा सोबती (जिंदगीनामा, मित्रो मरजानी, डार से बिछड़ी), उषा प्रियंवदा (पचपन खंभे लाल दीवारें), मृदुला गर्ग (चितकोबरा, मैं और मैं) तथा इनके अलावा चित्रा मुद्‌गल, प्रभा खेतान, नमिता सिंह, मैत्रेयी पुष्पा, ममता कालिया, सूर्यबाला जैसे अनेक नामों ने हिन्दी साहित्य को नारी जीवन की ज्वलंत समस्याओं से जोड़ा। स्त्री-विमर्श आन्दोलन को सही रूप देने के लिये मन्नू भंडारी हर कार्यक्रम की रूपरेखा और ब्लू प्रिंट को आवश्यक बताती हैं अन्यथा यह आंदोलन इसी तरह बिखराव का शिकार होता रहेगा और अपने-अपने व्यक्तिगत क्षेत्रों में कुछ पायदान ही बढ़ सकेगा। नारी की जो आत्मनिर्भरता इन स्वातंत्र्योत्तर महिला लेखिकाओं में दिखाई देती है, नारी को समाज की मुख्य धारा से जोड़ने में उसने अहम भूमिका अदा की। आजादी के बाद स्त्रियों के विचारों को भी स्वतंत्र सत्ता व आधुनिक रूप प्रदान किया। लता शर्मा के अनुसार- "आजादी मिली और साथ ही स्त्री घोर संघर्ष करती हुई दशक दर दशक विकास की सीढ़ियाँ चढ़ने लगी। उसे पुरानी सामंती पुरुष परंपराओं से निरंतर जूझना पड़ा, फिर भी घरेलू परतंत्रता से मुक्त होकर उसने शिक्षा पाई, नौकरी की, सामाजिक तथा राजनीतिक स्तर पर कितनी मंजिले आई - विकास की परंपरा जारी है तथा हर चरण के साथ अब और तेज होती जा रही है।"[3]

नारी को मात्र भोग-विलास की वस्तु समझने वाली मानसिकता का विरोध काफी सशक्त शब्दों में किया गया। पुरुष भेड़ियों की तरह घात लगाए इस 'नरमचारे' को उड़ाने के लिये उतावले रहते हैं, ऐसी धारणा लेखिका नमिता सिंह की है। 'अपनी-अपनी सलीबें' में वे लिखती हैं - "यह जिंदगी तो जैसे अंधेरे घने जंगल से निकलने वाली पगडंडी का नाम है। कब किधर से कोई बाघ या भेड़िया हमला कर दे। किस पेड़ के पीछे से जंगली सूअर दौड़ता हुआ आए और टक्कर मार कर गिरा दे, कुछ पता नहीं।" कृष्णा सोबती स्त्री-पुरुष विभाजन को कृत्रिम और अवांछित बताती हैं। लेकिन उनका लेखन उनके कहे को एक हद तक ही प्रमाणित कर पाता है। यानी 'मित्रो मरजानी', 'डार से बिछुड़ी', 'जिंदगीनामा', 'सूरजमुखी अँधेरे का' तक पसरी अपनी विस्तृत औपन्यासिक यात्रा में कृष्णा जी की कलम बार-बार

यह याद दिलाती है कि यह एक स्त्री का ही लेखन है और पुरुष इसे विश्वसनीयता और बारीकी से नहीं लिख सकता। वैसे 'मित्रो मरजानी' के प्रकाशन के साथ ही हिन्दी कथा साहित्य में खासी चर्चित हो गई थीं। 'मित्रो' के रूप में हिन्दी कहानियों में एक ऐसे नारी पात्र की सृष्टि हुई जिसमें देहधर्म के उफनते ज्वार के सहज स्वीकार की सम्पूर्ण साहसिकता है।

'देह का विमर्श' इस स्त्री-विमर्श के संसार में बहस का मुद्दा है। मैत्रैयी पुष्पा का मानना है कि - "यदि अपने शरीर के लिये कोई फैसला लेना मुक्ति का कारण बनता है तो मेरे लिये मुक्ति का साधन यही है, क्योंकि औरत को सदा देह के आधार पर बांधा गया है। जिस चीज को बंधक बनाया गया है, उसकी मुक्ति जरूरी नहीं, यह कहने वालों पर मुझे तरस आता है।" सुधा अरोड़ा का मानना है कि स्त्री-विमर्श जैसे मुद्दे को देह-मुक्ति से जोड़ने की प्रवृत्ति इसके एजेंडे को कमजोर कर रही है और इसे कहीं न कहीं विकृतियों की खान बना रही है। क्योंकि इस देह-मुक्ति के मुद्दे से जुड़ते ही इसके सामाजिक सरोकार कमजोर पड़ जाते हैं। सुधा अरोड़ा कहती हैं - "दलित और स्त्री के मुद्दे को अब जब भी सामाजिक सरोकारों से अलग-थलग कर के देखा गया है - उसकी विकृतियाँ और सिर्फ विकृतियाँ ही अधिक सामने आई हैं।"[4]

यहाँ देह की मुक्ति के संदर्भ में कुछ बातें उल्लेखनीय हैं। देह मुक्ति का हवाला देकर प्रभा खेतान ने अपने एकाधिक पुरुषों से शारीरिक संबंधों का खुलासा बहुत गर्व से किया। मैत्रेयी पुष्पा अपने उपन्यास 'चाक' में सारंग को अपने श्वसुर की जानकारी में श्रीधर से शारीरिक सम्पर्क बनाते हुए दिखाती हैं। मृदुला गर्ग की कहानी 'कितनी कैदें' में लिफ्ट के भीतर स्त्री-पुरुष सेक्स संबंध बनाते हैं। 'आल्मा कबूतरी' में खुलापन सहज सम्भोग से भी आगे बढ़ जाता है। यथा -"आल्मा ने उसके मुंह में छाती भिड़ा दी। दबाव ऐसा बनाया कि राणा के होठ खुल जाएँ।"

इस तरह की देह मुक्ति से ये लेखिकाएँ न जाने समाज को कैसी शिक्षा देना चाहती होंगी। नामवर जी के शब्दों में कहूँ तो लेखन में इस तरह की अश्लीलता सस्ती लोकप्रियता बटोरने का प्रयत्न है। 'ऐसी लेखिकाओं को वे सलाह देते हैं कि 'सेक्स से जुड़ी विकृतियों को एबिरेशन के तौर पर ही दिखाएँ उन्हें नार्म के तौर पर स्थापित न करें।' इस दैहिक मुक्ति की आग को हवा देने का काम इधर कई वर्षों से मीडिया (टी.वी.) करती आ रही है, खासकर विज्ञापनों में जिनमें साबुन की खूबियाँ बताने से अधिक अभिनेत्रियों की शारीरिक नुमाईश की जाती है। जेवरों के विज्ञापन में जेवरों से लदी मॉडल को ऐसे कोणों से दिखाया जाता है कि उसके उभारों और शारीरिक पुष्टता से जेवर की चमक में चार चाँद लग जाएँ। आज का बाजार अपना प्रोडक्ट उसकी खूबी से नहीं बल्कि मॉडलों की शारीरिक नुमाईश कर के बेच रहा है। एक बात और चौंकाने वाली है कि पुरुष अंडरवियर के विज्ञापन में कामुक अदाओं को दिखाती स्त्री का क्या काम? यह कुछ नहीं सिवाय देह मुक्ति को नकारात्मक दिशा देने के। चित्रा मुद्‌गल कहती भी हैं 'स्त्री की जो छवियाँ आज प्रस्तुत की जा रही हैं, तो इस तरह की थोथी क्रांतिकारिता हमें उस जगह नहीं पहुंचाएगी जहाँ हमें पहुँचना है।"[5]

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि आखिर स्त्री की मुक्ति कहाँ तक किस हद तक उचित है? इस संदर्भ में हमें स्त्री-विमर्श से जुड़े कुछ पहलू जैसे आर्थिक स्वतंत्रता, पारिवारिक स्वतंत्रता, निर्णय की स्वतंत्रता आदि को ध्यान में रखना चाहिए। देह मुक्ति भी एक हद तक ठीक है लेकिन प्रभा खेतान के मापदण्डों की देह मुक्ति कम से कम भारतीय समाज में ग्राह्य नहीं। जिस बाज़ार की चर्चा हम पीछे कर आए हैं उसकी भाव भंगिमा के प्रति सचेत राजेश जोशी लिखते हैं - "तुम एक देह हो /यह सुन्दर देह है / लेकिन तुम सिर्फ एक देह हो /यह सिर्फ व्यवसाय नहीं /एक कुटिल राजनीति है।"

नमिता सिंह द्वारा लिखित एक लेख है 'दुश्मन नहीं है औरत।"[6] यह लेख स्त्री की सामाजिक स्थिति का समाजशास्त्रीय दृष्टि से अवलोकन करता है। पुरुष प्रधान समाज में वर्चस्वशील परंपराओं ने किस कदर स्त्री की सामाजिक व पारिवारिक सीमाओं का निर्धारण किया और इस निर्धारण से स्त्री का जीवन किस प्रकार जटिलताओं से भर गया, साथ ही ये जटिलताएँ किस तरह समय गुजरने के साथ स्त्री जीवन का स्वाभाविक अंग बन गईं - इन सारी बातों की गहरी पड़ताल मिलती है यहाँ। वस्तुतः भारत में स्त्री-विमर्श के साथ यह साफ नहीं है कि यह पुरुष के विरोध में ज्यादा है या स्त्री की अपनी स्वतंत्र पहचान बनाने के लिये। निर्मला जैन का मानना है कि भारत में समस्या दुहरी है। नारी को पूज्य देवी और माँ का रूप देकर एक छद्म की तुष्टि की जाती है। यहाँ यह बताना भी आवश्यक है कि यद्यपि स्त्री स्वतंत्रत के लिये आर्थिक स्वतंत्रता एक आवश्यक शर्त है परन्तु मात्र यही काफी नहीं है। आर्थिक रूप से स्वावलम्बी औरतें भी परिवार में पुरुषों के अधीन हैं तथा घर में भेद-भाव का सामना करती हैं। लेकिन हमारे मनीषियों का दृष्टिकोण इस संबंध में कुछ अलग था जिसका अनुपालन हमारा समाज कतई न कर सका। स्त्रियों को आत्मनिर्भर बनाने में गाँधी जी की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है। चरखा कातकर आर्थिक पूर्ति करना स्त्रियों ने सीखा और अपनी पहचान स्वयं बनाई। आर्थिक पहलू के संबंध में डॉ. अमरनाथ मानते हैं - "पूँजीवादी युग में आकर हम नारी समाज की अवस्था में एक खास परिवर्तन देखते हैं। आधुनिक युग में बड़े-बड़े कल-कारखानों के खुलने के बाद देखा गया कि समाज का एक बड़ा हिस्सा (मुख्यतः गरीब वर्ग से ही) इन कल-कारखानों में काम पाने लगा। एक बार फिर सामाजिक उत्पादन के काम में नारी समाज की हिस्सेदारी शुरू हो गई। नारी को सामाजिक मुक्ति का रास्ता दिखाई देने लगा।"[7]

स्त्री-विमर्श जब शुरू हुआ था तब के समाज में औरतों की स्थिति काफी बदतर थी और इसके कारण ही उनकी स्थितियों में कई सकारात्मक बदलाव आए। किन्तु तब से अब तक के समय और समाज में काफी परिवर्तन हुआ है। आज के संदर्भ में यह स्त्री-विमर्श किसी आंदोलन की नहीं बल्कि एक चेतना प्रसार की मांग करता है, क्योंकि आज स्त्रियों की परिस्थितियों और उनके व्यक्तित्व में गुणात्मक परिवर्तन दिखता है। आज के तथाकथित आधुनिक युग में नारी का एक माडर्न, डिस्को संस्कृति से प्रभावित और बोल्ड कहलाने वाला ऐसा समूह भी है जिसकी मानसिकता स्त्री-विमर्श से मेल नहीं खाती। हिन्दी में इस स्त्री-विमर्श ने लम्बी दूरी तय कर ली है। वस्तुतः 'नारी बराबरी का हक चाहती है' यही स्त्री-विमर्श का मूल मंत्र होना चाहिए न कि किसी विचित्र प्रकार के भटकाव या देह मुक्ति की अवधारणा।

संदर्भ

1. बऊआ सिमोन दे, द सेकेण्ड सेक्स, 1947, पृ.-1। **2.** पाटिल पद्मा, वर्तमान साहित्य, मार्च-2008, पृ.-27। **3.** शर्मा लता, औरत अपने लिए, सामाजिक प्रकाशन, 2006, फ्लैप पर। **4.** अरोड़ा सुधा, स्त्री विमर्श को देह-मुक्ति से जोड़ने की साजिश, वागर्थ, मई, 2006, पृ.-32। **5.** मुद्गल चित्रा, स्त्रियों की विकृत छवियाँ प्रस्तुत की जा रही हैं, वागर्थ, मई-2006, पृ.-28। **6.** सिंह नमिता, दुश्मन नहीं है औरत, स्वाधीनता, शारदीय विशेषांक 2007, पृ.-200। **7.** डॉ. अमरनाथ, नारी मुक्ति का संघर्ष, रे माधव, 2007, पृ.-199।

सहायक प्रवक्ता (हिन्दी विभाग)
बानरहाट कार्तिक ओरांव हिन्दी गवर्नमेंट कालेज
बानरहाट, जलपाईगुड़ी (पश्चिम बंगाल)
मो.- 9831778147
इमेल-abhisingh1985123@gmail.com

●

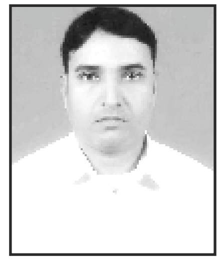

मोहनदास में दलित विमर्श

विकास कुमार साव

अपने समय के सर्वाधिक सजग कथाकारों में उदय प्रकाश द्वारा रचित **मोहनदास** का प्रकाशन 2005 (अगस्त) में **हंस** पत्रिका में हुआ था, जिसका पुस्तकाकार प्रकाशन 2006 में हुआ। मोहनदास दलित, मेहनतकश, श्रमजीवी, ईमानदार और शिक्षित आम आदमी की बेचारगी और यातना का दिल दहला देनेवाला वृत्तांत है। यह कहानी समाज के कमजोर, बेबस, लाचार, सत्ताहीन, असंगठित, खानबदोश लेकिन ईमानदार और श्रमशील लोगों के जीवन को रौंद दिए जाने की सच्चाई का बयान करती है। "इस कहानी में व्यापक कैनवस पर अनेकानेक संदर्भो - राजनीति की अनैतिकता, प्राशासन की अमानवीयता, आर्थिक नीतियों की दुरावस्था, न्यायिक तंत्र में मिलावट, नौकरशाही का मनमानापन, (नई) पूँजी की ताकत, शिक्षा व्यवस्था की बदहाली, साहित्यिक भ्रष्टाचार तथा पर्यावरण, गाँव, गँवई जिन्दगी, वहाँ के लोकाचार, लोकदेवता के साथ वैश्विक राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, व्यवस्था के रूप को दृढ़ता से धीरे-धीरे रेखांकित करने का सही और सार्थक प्रयास है।

'मोहनदास' अधिकार हनन का भयावह और जीवंत दस्तावेज है। ओरियंटल कोल माइंस में जिस मेहनती, शिक्षित, योग्य और गरीब मोहनदास को डिपो सुपरवाइजर की नौकरी मिली थी। उस नौकरी को बिछिया टोला के तिकड़मबाज नगेंद्र नाथ के पुत्र बिसनाथ प्रसाद द्वारा हड़पने की दर्दनाक त्रासदी है। संजीव कुमार लिखते हैं, "नारकीय गरीबी को झेलता एक असहाय दलित युवक जब अपने नाम से किसी और को नौकरी की सुख-सुविधाएँ भोगता देखता है और बार-बार अपना अधिकार हासिल करने की कोशिश में एक के बाद एक गहरी मारें खाता है, तो आप अंदर तक हिल जाते हैं। आखिरी मार इतनी गहरी और ऐसे असमाप्य दुःस्वप्न की तरह है कि वह खुद ही अपना नाम बदल देने की गुहार लगाता हुआ दिखता है।"

उदय प्रकाश की कहानी 'मोहनदास' एक नयी दृष्टि पैदा करती है। हमारे वर्तमान समय के उन सब प्रश्नों एवं समस्याओं से साक्षात्कार कराती है जिससे जनता को संघर्ष करना पड़ता है। इस कहानी में सामाजिक यथार्थ की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है तथा समाज के इन ज्वलंत मुद्दों का गंभीरता से विवेचन किया गया है, जिससे मानवीयता का सरोकार है।

'मोहनदास' कहानी में कथानायक मोहन दास नीची जात का कबीरपंथी है। "उसकी बिरादरी के बहुत से लोग आज भी सुपाचटाई, दरी-कंबल बुनते हैं।"[1] उदय प्रकाश

(कथावाचक) मोहन दास की जात के विषय में एक और जगह उल्लेख करते हुए कहते हैं, "गाँव में वैसे भी कबीरपंथी बंसहर-पलिहा नीची जाति के माने जाते थे। वे अनुसूचित जाति के हैं या आदिवासी या आदिम जनजाति, अभी तक सरकारी गजेट में यह स्पष्ट नहीं था। दस साल पहले हुई जनगणना में उनकी जाति के आगे सिर्फ बंसोर या पलिहा उल्लेख हुआ था। दूसरे कागजात में धर्म हिन्दू और राष्ट्रीयता भारतीय।"[2] स्पष्ट है कि मोहन दास एक दलित युवक है। वह अपने नाम से नौकरी कर रहे ऊँची जात के बिसनाथ से संघर्ष करता है और अंततः उसको नौकरी से अपदस्थ करवाता है। दलित विमर्शकार अभय कुमार दूबे मोहन दास को दलित विमर्श की प्रमुख और प्रतिनिधि कहानी मानते हुए कहते हैं, "यह (मोहनदास) हिंदी में कहानी कहने की कला के ऊपर और उसकी जो बहुत सारी संरचनाएँ हैं, उनके ऊपर दलित साहित्य के प्रभाव व विजय का उद्घोष है। इसे पढ़ने के बाद मुझे लगता है कि दलित साहित्य हिन्दी में आकर जीत गया है और पहली बार एक ऐसे सहित्यकार ने, जो कि हमारे समय का बहुत महत्वपूर्ण और अहम् सहित्यकार है, इस तरह की कहानी लिखी जैसे कोई दलित साहित्यकार कहानी लिख रहा हो।"[3] क्या सचमुच 'मोहनदास' दलित विमर्श की कहानी है? 'मोहनदास' को केवल दलित विमर्श की कहनी मानकर इसके व्यापक परिप्रेक्ष्य को सीमित करना नहीं है क्या? आदि-आदि, इन सबके लिए हमें 'मोहनदास' को दलित के आईने में देखना होगा।

दलित शब्द का अर्थ है, जिसका दलन या दमन हुआ है। आज 'दलित' शब्द का जो प्रयोग हो रहा है वह विशिष्ट जातियों की ओर संकेत करता है। दलित शब्द के उद्भव का मूल वर्ण-व्यवस्था में खोजा जाता है। मनु ने जो वर्ण व्यवस्था बनाई थी जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य और शुद्र चार वर्ण थे। यह व्यवस्था समाज को सुचारु ढंग से संचालन हेतु बनाई गयी थी। मनु द्वारा बनाई गई यह व्यवस्था कर्म पर आधारित थी लेकिन दुर्भाग्य से आगे चलकर ब्राह्मणवाद ने अपनी स्वार्थ सिद्धि हेतु उसे जन्म पर आधारित बनाया। चारों वर्णों में शूद्र का काम अपने से उच्च तीन वर्णों की सेवा करना था। उनके कर्म को तुच्छ, निम्न कोटि का मानकर अब इसे दलित संज्ञा से अभिहित किया गया। समाज के अन्य समुदायों ने उनसे दूरी बढ़ाकर उन्हें उपेक्षा का पात्र बनाया। परिणामस्वरूप उन्हें आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक दृष्टि से, कभी शास्त्र के आधार पर तो कभी शस्त्र के बल पर दबाया गया। इसमें भयानक साजिश की गयी जिसमें भाग्य, कर्मफल, पूर्वजन्म का फल, यह सब शुद्र जातियों को डराने के लिए बनाए नियम थे।

दलित लेखक कंवल भारती लिखते है, "दलित वह है जिस पर अस्पृश्यता का नियम लागू किया गया है। जिसे कठोर और गंदे काम करने के लिए बाध्य किया गया है, जिसे शिक्षा ग्रहण करने और स्वतंत्र व्यवसाय करने से मना किया गया है और जिस पर सछूतों ने सामाजिक निर्योग्यताओं की संहिता लागू की, और वही दलित हैं, और इसके अंतर्गत वही जातियां आती हैं, जिन्हें अनुसूचित जातियां कहा जाता है।"[4] कंवल भारती के दलित-मानक पर 'मोहनदास' को देखें तो ज्ञात होगा कि मोहनदास न तो अशिक्षित है और न ही वह गंदे कामों को करता है एवं न ही वह अस्पृश्य है। उदय प्रकाश एक विलक्षण किस्म के दलित पात्र की सृष्टि करते हैं जो पढ़ने में विश्वविद्यालय का टॉपर है, लिखित परीक्षा में हमेशा ऊपर रहनेवाला है और जिसने अपनी मेहनत से तमाम अभावों के बावजूद डिपो सुपरवाइजर की नौकरी हासिल की है, भले ही उसके साथ समर्थ सत्तासीन व्यक्ति छल करता है। मार्क्सवादी विचारक यह मानते हैं कि दलित समस्या मूलतः आर्थिक समस्या है। वे इस समस्या को श्रम विभाजन की दृष्टि से देखते हैं। लेकिन जातिव्यवस्था सिर्फ श्रम

विभाजन नहीं है। वह श्रमिकों का भी विभाजन है। जाति व्यवस्था के द्वारा जो श्रम विभाजन किया गया है, वह पसंद नहीं बाध्यता है। डा. अम्बेडकर ने अपनी किताब 'जाति का उन्मूलन' में इस विषय पर विस्तार से चर्चा की है। जाति व्यवस्था हिंदुओं को ऐसा पेशा अपनाने की इजाजत नहीं देती, जो पीढ़ीगत उनका पेशा नहीं है। डा. अम्बेडकर की मान्यता थी कि संपत्ति की बराबरी ही वास्तविक सुधार नहीं है। "समाजवादियों से उनका सवाल था कि क्या ये सामाजिक व्यवस्था में सुधार लाए बगैर आर्थिक सुधार कर सकते हैं?"[5] इस प्रकार हम देखते है कि समाजवादी और अंबेडकरवादी विचारों में दलित समस्या को लेकर मतभेद है। एक का संबंध आर्थिक व्यवस्था से है तो दूसरे का संबंध सामाजिक व्यवस्था से।

मूलतः 'दलित' शब्द का एक व्यापक अर्थ जाति की अवधारणा से परे है, तो दूसरा सीमित अर्थ है जाति पर आधारित। "व्यापक अर्थ में दलित वह है जो पतित, दमित, दुरावस्थ, लाचार और शोषित हो, फिर चाहे उसकी जाति जो भी हो और सीमित अर्थ में दलित वह है जो अस्पृश्य निम्न जाति का या शूद्र है।"[6] उदय प्रकाश ने 'मोहनदास' में दलित को सीमित अर्थ में न लेकर व्यापक अर्थ में लिया है। उनका मोहनदास पतित, दमित, दुरावस्थ, लाचार और शोषित है। इसके माध्यम से लेखक ऐसी व्यवस्था की ओर संकेत कर रहे हैं, जो शोषण पर आधारित है।

अन्य आलोचकों की नजर में, "दलित या शोषित वर्ग से तात्पर्य है, एक ऐसा वर्ग समूह या जाति विशेष का व्यक्ति अथवा वह जाति जिसके धन, संपत्ति, माल, अधिकार एवं श्रम आदि का हरण किसी अन्य शक्ति-संपन्न वर्ग या जाति के द्वारा किया जाता है।"[7] मोहन दास ऐसा ही दलित पात्र है जिसके अधिकार, श्रम, मान, अस्मिता आदि का हरण बिसनाथ जैसे शक्ति संपन्न वर्ग द्वारा किया जाता है, जिससे उसे समाज में उपेक्षित निम्न जीवन-स्तर जीना पड़ता है।

चेतना और संवेदना दोनों परस्पर पूरक हैं। मनुष्य की सोचने की क्षमता का नाम ही चेतना है, जिसे हम बुद्धि भी कह सकते हैं और किसी अच्छे बुरे का मन में होने वाला बोध या अनुभव ही संवेदना है। चेतना से अनुभूति और अनुभूति से प्रतिक्रिया व्यक्त होती है। "दलित चेतना की सबसे पहली शर्त है उसका विरोध का स्वर, पीड़ा की छटपटाहट, आक्रोश का तेवर और उसके साथ ही कहीं परिवर्तन के लिए उगता हुआ एक संकल्प।"[8] 'मोहन दास' में ये सारी चीजें परिलक्षित होती हैं। एक उदाहरण देखिए - लेकिन असल में मोहनदास न तो पागल हुआ था, न उसकी स्मृति में कोई खोट थी। उसकी चेतना पर जो घाव लगा था, वह लगभग एक हफ्ते की अखंड नींद, मूर्च्छा या नशे के दौरान चुपचाप मर गया। उसे अच्छी तरह मालूम था कि उसके साथ और उसके जैसे असंख्य लोगों के साथ लगातार पिछले कई सालों से धोखाधड़ी और छल किया जाता रहा है, लेकिन वह कुछ कर पाने में असहाय था।"[9] हम देखते हैं कि परम्परा में दलित चेतना का जो मौन रूप दिखाई देता है, उसमें न विद्रोह है, न आक्रोश। मोहन दास का विद्रोह मूक नहीं है, बल्कि शोषकों के प्रति आक्रोश कर शोषण का विरोध कर उसे चुनौति देना भी है। "मोहन दास अपने बचपन के संगियों को बताना चाहता था कि तुम लोग सरकारी दफ्तरों में शहरों की ऊँची-ऊँची बिल्डिंगों और बड़े-बड़े बंगलों-कोठियों में, कोयला खदानों-कारखानों में और लेनिन नगर, गांधी नगर, अंबेडकर नगर, शास्त्री नगर जैसी कॉलोनियों में जाकर पता लगाओ कि कहीं वहाँ तुम्हारे नाम, वल्दियत और पते ठिकाने का कोई दूसरा फर्जी जालसाज तो नहीं बैठा हुआ है, जिसने तुम्हारा हक छीन लिया है।"[10]

मोहनदास समानता के लिए संघर्ष करता है। उसका यह संघर्ष ही चेतना है। इस चेतना को कोई दलित चेतना से जोड़ सकता है। पर आज के यांत्रिक

समाज में वे सभी दलित हैं जो मजदूर हैं, भूमिहीन किसान हैं, आदिवासी हैं, अर्थात जो सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हैं।

उदय प्रकाश स्वयं मोहनदास को दलित डिसकोर्स मानकर उसे सीमित करने के पक्ष में नहीं हैं। उनका कहना है, "यह एक सामाजिक श्रेणी (वर्ग) है जो आप कह रहे हैं - न दलित है, अल्पसंख्यक है, गैरदलित है। कला सबसे ज्यादा संगीत में जाकर विकसित होती है। फिर आप किसी संगीत को कहें कि यह दलित संगीत है, यह मैक्सीकन है, यह मैंगोलॉइड है, अल्पसंख्यक संगीत है, ब्लैक या व्हॉइट संगीत है, ऐसा नहीं है।"[11] स्पष्ट है कि रचनाकार स्वयं किसी कहानी, कविता या अन्य कलाओं को दलित, अल्पसंख्यक, सर्वहारा करके बांटने के पक्ष में नहीं हैं। एक उदाहरण देकर उदय प्रकाश अपनी बात को स्पष्ट करते हैं, "मार्क्स ने कहा था कि गरीबी बहुत अच्छी चीज नहीं है। जब आप बहुत सारी चीजों से वंचित किए जाते हैं तो आप उदात्त मानवीय संवेदना से भी वंचित होते हैं, इसलिए वह अमानवीय चीज है। "कफन" कहानी में उस जगह (घिसू-माधव की जगह) पर कोई अंग्रेज होता जो दाने-दाने को मोहताज होता या कोई सवर्ण होता जो घिसू और माधव वाली हालत में होता तो उसके साथ भी यही हो सकता था कि पत्नी की अन्त्येष्टि के लिए जुटाये चंदा के पैसे से शराब और मांस खा-पी रहा है या कुछ और कर रहा है, तो वंचना की बहुत भयावह कहानी थी वह।"[12]

निष्कर्ष यह है कि 'मोहनदास' में दलित विमर्श या दलित डिसकोर्स देखना उसके व्यापक परिप्रेक्ष्य को कम करके आकंना है। मोहनदास के संघर्ष को उद्घाटित करते समय जो उत्पीड़क सत्ताएं हैं, अपने आप उसमे उद्घाटित होती चली जाती हैं। बिसनाथ का सवर्ण होना महज संयोग है, जो उसकी पहचान तक चुरा लेता है। वास्तव में मोहनदास एक प्रतीक पात्र है, कमजोर, बेबस या सत्ताहीन का जो एक व्यक्ति भी हो सकता है, एक जाति भी या एक वर्ग भी या एक राष्ट्र भी।

सन्दर्भ

1. प्रकाश उदय, मोहनदास, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृष्ठ - 11। **2.** प्रकाश उदय, मोहनदास, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली पृष्ठ -45। **3.** सं. जोशी ज्योतिष, सृजानात्मकता के आयाम, नयी किताब, नयी दिल्ली पृष्ठ -143। **4.** भारती कंवल, दलित विमर्श की भूमिका। **5.** डॉ. अमरनाथ, हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन; प्रकाश उदय, मोहनदास, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृष्ठ -172 आवृत्तिः 2015। **6.** सं. पाण्डेय रतन कुमार, अनभै (कहानी विशेषांक) जुलाई-दिसम्बर, 2009, पृष्ठ-58। **7.** सं. गड्पयाले संजय, दलित साहित्य : संवेदना और स्वरूप. प्रथमावृत्ती : 2010, पृष्ठ -55। **8.** गुप्ता रमणिका, दलित चेतना : साहित्यिक एवं सामाजिक सरोकार, संस्करण : 2004 समीक्षा पब्लिकेशन, दिल्ली, पृष्ठ 104। **9.** प्रकाश उदय, मोहनदास, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृष्ठ - 62। **10.** प्रकाश उदय, मोहनदास, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृष्ठ -56। **11.** सं. जोशी ज्योतिष, सृजानात्मकता के आयाम, नयी किताब, नयी दिल्ली, पृष्ठ - 145। **12.** सं. जोशी ज्योतिष, सृजानात्मकता के आयाम, नयी किताब, नयी दिल्ली, पृष्ठ 146।

Haralal Road Bye Lane
Bansbagan New Colony
P.O. Garulia North 24 PGS.
Pin-743133 (W.B)
मो. : 8777529371
ईमेल-shawvikash121@gmail.com

●

कबीरा खड़ा बाजार में : सामाजिक अन्तर्विरोधों का दस्तावेज

डॉ. सुनीता सियाल

"कबीरा खड़ा बाजार में" भीष्म साहनी द्वारा लिखा गया एक ऐतिहासिक नाटक है। इसमें घटित घटनाओं के प्रमुख स्थान काशी और उस काल की परिस्थितियों तथा प्रकृति का चित्रण सशक्त, आकर्षक, सुन्दर व प्रभावी रूप में किया गया है। काशी के वातावरण को पूर्णतः स्वाभाविक, वास्तविक और कलात्मक रूपों में अत्यन्त सूक्ष्मता व गहनता से चित्रित कर प्रभावपूर्ण बनाने में लेखक को पूर्ण सफलता मिली है। "भीष्म साहनी सूक्ष्म समाज द्रष्टा लेखक हैं। वे समाज के गहरे अन्तर्विरोधों को तो उद्घाटित करते ही हैं, साथ ही उन कारणों की जड़ों तक जाते हैं और उन्हें बड़े पैने तरीके से उजागर भी करते हैं।"[1]

यह एक ऐसी नाट्य कृति है जो एक स्तर पर कबीर के तत्कालीन समाज, उस समाज में उनके निर्भय, सत्यभाषी और अन्याय के खिलाफ लड़ने वाले प्रखर व्यक्तित्व की पुनर्रचना करती है तो दूसरे स्तर पर वह हमारे समकालीन समाज में सम्प्रदाय विरोधी, फासिज्म-विरोधी और बाह्यआचार विरोधी शक्तियों की महत्वपूर्ण भूमिका की ओर इशारा कर देती है। "यह बात तो पूरी तरह से तय है कि साहित्यकार जिस युग और परिवेश में जीता है उसकी समस्याएँ प्रश्न बनकर उसके मन को कुरेदती रहती हैं। इसलिए नाटककार को जीवनजगत और अपने परिवेश की उन्हीं स्थितियों को नाटक में स्वीकार करना पड़ता है, जो अधिक से अधिक दर्शक को अपनी अनुभूति लगे।"[2] और भीष्मजी अपनी रचनाओं में ऐसा करते हैं।

नाटक की कथा का प्रारम्भ नाटक के प्रथम अंक के प्रथम दृश्य से होता है, जिसमें कबीर के पिता नूरा और एक अन्य जुलाहा को वार्तालाप करते हुए दिखाया है। वह जुलाहा बाजार से लौटा है और कबीर द्वारा दिये कपड़े के दो थान लौटाने कबीर के पिता के घर जाता है और बताता है कि बाजार में कोई भी दुकानदार किसी जुलाहों का माल नहीं खरीदता है, ज्यादा कहो तो माल लौटा ले जाने को कहता है। इसी वार्तालाप में वो जुलाहा जिसका कि नाम करमदीन है, नूरा को कहता है कि कबीर को मैंने बाजार में खड़ा देखा वह दीन की बुराई कर रहा था एवं मस्जिद के पास मुल्लामौलवी को बुरा भला कह रहा था, साथ ही लोगों की भीड़ जमा कर रखी थी। तुम्हारे कबीर को समझाओ बहुत बड़बोला हो गया है। साथ ही करमदीन यह सन्देश

भी दे जाता है कि कोतवाल तो ऐसा आदमी है कि जिन्दा गाड़ देता है। इस कोतवाल का कोई भरोसा नहीं, पहले वाला कोतवाल सीलदार आदमी या भला मानुष था, अब कभी भी कुछ भी घटित हो सकता है।

कबीर नीमा-नूरा जुलाहे दम्पति द्वारा पालित-पोषित संतान है न कि उनकी अपनी संतान। कबीर अपने माता-पिता को प्राणों से प्यारा है और कबीर भी अपने माता-पिता को अपने सिर पर उठाये रहता है लेकिन अपने कार्यों द्वारा यह अपने माता-पिता को दुखी करता है, इस कारण माता-पिता में आपस में तनाव बना रहता है। कबीर अपने विषय में हो रही वार्ता सुन लेता है फिर अपनी मां से सिर की सौगन्ध देकर एक बात सत्य कहने को कहता है और अंततः यह जान लेता है कि वह एक विधवा ब्राह्मणी की संतान है और उसे फेंक दिया गया था जहाँ से उठाकर नूरा-नीमा जुलाहा दम्पित्त ने उसका पालन-पोषण किया है। तदन्तर कुरुक्षेत्र अखाड़े के महन्त जी की सवारी निकलती है जिसमें समाज में व्याप्त बाह्याचार, धर्माचार, जातपात, ऊँच-नीच की भावना को चित्रित किया गया है। कोतवाल को अपने स्वधर्मावलम्बियों का कार्य करने के लिये रिश्वत लेते दिखाया गया है और अन्त में कबीर को गिरफ्तार कर लिया जाता है। इसका कारण था- तत्कालीन दिल्ली सुल्तान सिकन्दर लोदी का काशी-आगमन। परन्तु सुल्तान द्वारा कबीर से मिलने की ख्वाइश करने पर कबीर को छोड़ा जाना, कबीर द्वारा भण्डारे का आयोजन, अन्त में कबीर व सुल्तान का आपसी वार्तालाप बताया गया है।

इस नाटक में दिल्ली का शहंशाह सिकन्दर लोदी है जो निरंकुश और तानाशाही सत्ता का प्रतीक है। काशी नगर का कोतवाल आज की अफसरशाही के चरित्र को समझने में हमारी मदद करता है। कायस्थ का चरित्र आज के साइको फैन्ट्स की ओर एक इशारा है, अन्धा भिखारी वह अभागा आधुनिक जन है, जो आए दिन किसी न किसी तरह के जोरजुल्म की कड़ी से कड़ी मार झेलता है और हादसा-ग्रस्त होता है। मठ का महंत है जो सामप्रदायिकता, धर्मान्धता की विचारधारा और भावोन्माद का प्रतीक है। तद्‌युगीन मौलवी हैं, पंडे हैं, पुजारी हैं और धार्मिक दुष्चक्र हैं। सच्चे, ईमानदार और पाखण्ड-विरोधी सहज, स्वाभाविक, फक्कड़ और फकीर इंसान के लिये यही चुनौतियां हैं जिनका कि मुकाबला कबीर को करना पड़ा था। नाटक में कबीर, रैदास, सेन, पीपा, बशीरा की टोली ऐसे ही आधुनिक प्रतिबद्ध और प्रगतिशील इंसानों के अग्रिम दस्ते की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है जो सब कुछ दांव पर लगाकर मौजूदा व्यवस्था के सम्पूर्ण पाखण्ड का भंडाफोड़ करने के लिये कमर कसे हुए हैं। ऐसी कमर जो सदियों से कोड़े खाती आ रही है फिर भी उसके कसाव में कोई कसर या कोई कमी नहीं आई। व्यंजना के स्तरों पर इन्हीं सारे सन्दर्भों को यह नाटक गुंजायमान कर देता है, यही इसकी शक्ति है और यही इसका प्रभाव। इसलिये यह नाटक ऐतिहासिक होते हुए भी अत्यन्त आधुनिक है। साथ ही अर्थवान भी है और इसकी कथावस्तु बेहद सामयिक और बेहद प्रासंगिक हो उठी है। भीष्म साहनी एक संवेदनशील कथाकार हैं, नारी की संवेदनाओं के वे एक कुशल और सक्षम चितेरे हैं। इस नाटक में कबीर की मां और पत्नी के चरित्र विशेष रूप से मन को छूते हैं। कबीर की मां नीमा कबीर की जननी नहीं है लेकिन कबीर से बेहद प्यार करती है फिर भी यह कबीर को उसकी असली माँ का अतापता बता देती है और कहती है वह मिल जाये तो चला जा बेटा, मैं तुझे नहीं रोकूंगी। इस पर कबीर उत्तर देता है, मुझे घर से निकाल रही हो माँ, गोद लिये बालक को भी कोई निकालता है। नीमा प्रत्युत्तर में कहती है, मैं तुझे घर से निकालूंगी रे! "जिसे पाल कर बड़ा किया है, उसे घर से निकालूंगी तुझे देख-देखकर तो हम दोनों जीते हैं।"[3]

मां बेटे के इस संवाद की पृष्ठभूमि से उस मां की भी छाया उभरती है, जो बेवा होने के कारण अपने

नवजात बेटे को एक तालाब के किनारे छोड़ आई थी, क्योंकि निर्मम समाज की थोथी नैतिकता के आतंक से वह संत्रस्त थी। उसके बारे में नीमा कहती है -"वह भी बदनसीब थी कबीरा, वरना अपना बच्चा कौन फेंकता है, उसे पता चल गया था कि तुम्हें मैं उठा लाई हूँ, कहीं छिपकर देख रही थी। वह हमारी झोंपड़ी के आसपास आकर मण्डराती रहती, अन्दर झांक कर देखती, फिर लौट जाती।"[4]

दूसरी ओर नीमा भी कम बदनसीब नहीं है, वह अपने प्यारे बेटे की कमर पर धर्म और सत्ता के ठेकेदारों द्वारा बरसाये गये कोड़ों के निशान देखती है तो उसका दिल दहलता है, लेकिन वह कुछ कर नहीं पाती। कबीर की पीठ पर तेल चुपड़ती है और उसे समझाती है-- "तू यह क्या करता फिरता है कबीरा? मेरा दिल दहलाता है, जिन लोगों के हाथ में ताकत होती है, उन लोगों के दिल में रहम नहीं होता बेटा! तू मेरी बात मान, बेटा तू सुन कर अनसुनी कर जाया कर, पर मुँह से कुछ ना बोला कर।"[5] कबीर के मुँहफट होने की प्रवृत्ति समाज के ठेकेदारों को रास नहीं आती, वही प्रवृत्ति उसकी मां की व्यथा का कारण बनती है। भीष्म साहनी ने अपनी मौलिक उद्‌भावना द्वारा इस प्रसंग का बेहद सृजनात्मक इस्तेमाल करते हुए एक बड़े कलाकार की क्षमता का परिचय दिया है। कबीर को जब इस तथ्य का पता चलता है कि लोई किसी और लड़के से प्रेम करती थी और उसके पिता ने उसे उससे ब्याह कर एक अन्याय किया है तो वह अपनी पत्नी लोई से कहता है - "उसके साथ तू खुश रहेगी, तो तू जरूर उसी के पास चली जा।"[6] इतना ही नहीं वह उसे उसके प्रेमी के पास पहुँचाने को तैयार है। लोई हैरान होकर उस मर्द के दिल की विशालता को देखती है, उसके बारे में उसकी सोच बदलती है। इस प्रक्रिया की आग से लोई के हृदय में साहूकार के छैल-छबीले बेटे के प्रति उसकी आसक्ति की झाड़ियां जल उठती हैं और यहां उसके हृदय में कबीर के प्रति एक दायित्व की भावना से ओत-प्रोत प्रेम का उदय होता है। लोई एक निर्णय लेती है कि वह अब कबीर की अर्द्धांगनी होकर रहेगी, कहीं नहीं जायेगी। यहाँ बांग्ला के महान उपन्यासकार शरत की कृति 'स्वामी' की याद ताजा हो आती है।

"कबीरा खड़ा बाजार में" नाटक का नामकरण भी घटनाओं की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है। यह नाटक जब प्रारम्भ होता है, तब कबीर को बाजार में खड़े होकर अपने कवित्त कहते हुए दिखाया गया है। नाटक के मध्य में भी जहां सत्संग व भण्डारा होता है, वहां कबीर बाजार में ही है खड़ा है और नाटक के अंत में कबीर व सिकन्दर बादशाह का वार्तालाप हो जाने पर फिर कबीर को बादशाह के आदमियों द्वारा भाले व नेजों की नोक पर धकेलते हुए ले जाना, यह घटना भी बीच बाजार में होती है अर्थात् सारी मुख्य घटनाओं के होते समय कबीर बाजार में खड़ा है, अतः इस नाटक का नामकरण "कबीरा खड़ा बाजार में" एकदम उपयुक्त है।

इस नाटक का उद्देश्य मानवता की प्रस्थापना है। इन्सान-इन्सान सब समान हैं, उसमें जाति, धर्म, नस्ल के आधार पर भेद किया जाना अनुचित है। सभी इंसान उसी एक परमपिता परमेश्वर के अंश हैं, "मेरा परवर दिगार मेरे चारों ओर है, वह मेरे दिल में बसता है, उसकी नजर में न कोई हिन्दू है, न तुर्क, मैं अल्लाह का नूर हर इन्सान में देखता हूँ, इन्सान के दिल में देखता हूँ।"[7] कबीर कहते हैं **जन्म से सभी इन्सान होते हैं, बस ब्राह्मण का बेटा मां के पेट से तिलक लगाकर निकलता और तुर्क का बेटा खतनी करवाकर निकलता है?**[8] **एक बूंद मलमूतर, एक चाम एक गूदा। एक जोति से सब उतपन, कौन बामण कौन सूदा। एक नूर ते सब जग उपज्या, कहि कौन तुम्हें भरमाया अल्लाह हजरत करीमा, केशव नाम धराया।** और इसे दार्शनिकता के आधार पर प्रमाणित किया है। **साधो एक रूप सब मांहीं अपने मनहिं विचार के देखो और दूसरा नाहीं। एकै त्वचा, रुधिर पुनः एकै विप्र शूद्र के माहीं।"**[9]

भीष्म साहनी ने वर्तमान समय में हमारे समाज में परिव्याप्त धर्माचार, मिथ्याचार, जाति-भावना, हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य, छुआछूत की भावना आदि सभी समस्याओं को प्रस्तुत नाटक में लिया है और इनका समाधान बताने के लिये कबीर के व्यक्तित्व व जीवन वृत्त का सहारा लेकर नाटक का ताना-बाना बुना है और कबीर को इन सब समस्याओं से संघर्ष करते हुए दिखाया गया है। अपने युग की तानाशाही, धर्मान्धता, बाह्याचार और मिथ्या धारणाओं के विरुद्ध अनथक संघर्ष करने वाले कबीर ने किसी से समझौता नहीं किया। उन्हें हिन्दुओं व तुर्कों (मुसलमानों) में जहां भी उक्त चीजें दिखाई पड़ी कह दिया -"चाहे कांकर पाथर जोरी करि, मुल्ला द्वारा बांग दिया जाना हो या मूण्ड मुण्डाना, छापातिलक हो, रोजा नमाज हो, दिन में रोजा रखत है, रात हनत है गाय या माला पहनी तिलक लगाया, लम्बी जटा बढ़ाता है, "पाहन पूजे हरि मिले, तो मैं पूजू पहार। तातै वा चाकी भली पीस खाय संसार। माला फेरी तिलक लगाया, लम्बी जटा बढ़ाता, अन्तर तेरे कुफर कटारी यों नहिं साहिब मिलता।" कबीर ने उक्त बाह्याचारों की खुलकर निन्दा की। धर्म के ठेकेदार मुल्ला-मौलवी, पण्डित-पुजारी को इन्होंने जमकर कोसा क्योंकि सभी बुराइयों की जड़ उनके द्वारा फैलाई हुई भ्रान्तियां हैं। कबीर ने जहां पोषित मिथ्याचारों की बखिया उधेड़ी वहीं जीवन का महामन्त्र भी घोषित किया। कबीर के शब्दों में "मनुष्य से प्रेम करना ही भगवान की सच्ची आराधना है।"

संदर्भ

1. राजेश्वर सक्सेना - प्रताप ठाकुर, भीष्म साहनी : व्यक्तित्व और रचना पृ. - 157। **2.** विवेक द्विवेदी, भीष्म साहनी : उपन्यास साहित्य पृ.48-49। **3.** भीष्म साहनी, कबीरा खड़ा बाजार में, पृ. 20-21। **4.** वही, पृ.-20। **5.** वही, पृ.-21। **6.** वही, पृ. -73। **7.** वही, पृ-95। **8.** वही, पृ. 96। **9.** वही, पृ. 39।

हिन्दी विभागाध्यक्षा, सोफिया कन्या महाविद्यालय
अजमेर (राज.) 305001
मो.- 9460478865
ईमेल - sunitaheeranshil@gmail.com

उजली वाणी

ईसा अपने शिष्यों के साथ जा रहे थे। रास्ते में एक आदमी मिला। वह ईसा को जी-भर गालियाँ देने लगा।

ईसा सुनते रहे, उसके चुप होने पर उन्होंने कहा–'मित्र! तुम्हारा भला हो। तुम्हारा कल्याण हो।'

एक शिष्य कहने लगा– 'आप इसको क्यों आशीषें दे रहे हैं, यह तो अधम आपको बिना वजह गालियाँ सुना रहा है।'

ईसा– 'मैं क्या करूँ, मेरी जेब में जो सिक्के होंगे, वे ही तो मैं दूँगा।'

जिनके हृदय में शुभ विचारों के सोने के सिक्के होंगे, वे ही मुँह से शब्द बन झरेंगे।

वाणी ही पहचानिए, चोर साधु की घाट।
जो करणी अंदर बसै, निकले मुख की बाट।।

शब्द एक सिक्का है। शब्द एक ज्योति है। शब्दों में चेतना का स्पर्श हो तो वाणी उजली बनती है।

दिन दिन वाणी उजली, चढ़ै सवाया रंग।

उषा प्रियम्वदा की कहानियों में मानवीयता

डॉ. जय प्रकाश पाण्डेय

उषा प्रियम्वदा की गणना उन विशिष्ट कथाकारों में होती है, जिन्होंने आधुनिक जीवन की उदासी, अकेलेपन, ऊब आदि का चित्रण करते हुए गहरे यथार्थबोध की समझदारी अभिव्यंजित की है। एक ओर इनकी रचनाओं में आधुनिकता का प्रबल स्वर है तो दूसरी ओर चित्रित प्रसंगों में हर वर्ग के पाठक के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध स्थापित करने की असीम क्षमता भी है। वे पुराने संस्कारों का भी उतना ही ध्यान रखती हैं, जितनी आधुनिक समस्या और विकृतियों विसंगतियों का चित्रण करती हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि उन्होंने मानव की उस मजबूरी का बेबाक चित्रण किया है, जिसमें मनुष्य वैसा कुछ करने को विवश है जो वह कभी करना नहीं पसंद करता है। इनके कथा-साहित्य में अनेकानेक विडम्बनाओं, आशा-निराशाओं, विद्रूपताओं, विषमताओं और कटुता-क्रूरता का सूक्ष्म अंकन हुआ है। बदलते समाज में सम्बन्धों में आयी हर छोटी से छोटी स्थितियों और परिस्थितियों पर उन्होंने सूक्ष्म दृष्टि डाली है।

स्वातंत्र्योत्तर भारत के बदलते हुए सामाजिक और मानसिक परिवेश को उषा प्रियम्वदा ने जीवंत रूप में रेखांकित किया है। व्यक्ति और परिवार, परिवार और समाज के अंतः-सम्बन्धों की विसंगतियों और विडम्बनाओं को जितनी गहराई के साथ उन्होंने चित्रित किया है, उतनी ही व्यापकता में उन्होंने व्यक्ति के बाह्य और आंतरिक संसार के बीच के सम्बन्ध को भी अंकित किया है। वस्तुतः आधुनिक जीवन शैली के कारण मनुष्य के जीवन की रागात्मकता और नैतिकता को गहरा धक्का लगा है। आज की नई सभ्यता के विकास ने मनुष्य का मूल्य अर्थोपार्जन की कसौटी पर आंका जाता है, जिससे असफल व्यक्ति जीवन में घोर निराशा, असह्य पीड़ा, टूटन और संत्रास का शिकार होने को विवश है। मानवीय सम्बन्धों में व्याप्त तनाव, विघटन और जटिलता को अभिव्यक्ति प्रदान करने में कथाकार उषा प्रियम्वदा पूरी तरह सक्षम रही हैं। आधुनिक भावबोध से युक्त अपने परिवेश और परिस्थिति की प्रामाणिक अभिव्यक्ति प्रदान करने वाली अर्थपूर्ण कहानियों से साथ उषा प्रियम्वदा ने सृजन को नवीन दिशा प्रदान की है। 'फिर वसंत आया', 'जिन्दगी और गुलाब के फूल', 'एक कोई दूसरा', 'मेरी प्रिय कहानियाँ', 'कितना बड़ा झूठ' आदि कहानीसंग्रहों के माध्यम से कथाकार उषा प्रियम्वदा ने नई भाव-भूमि को रेखांकित किया है।

'फिर वसंत आया' में रोमांटिक बोध का उजला रूप प्रदर्शित हुआ है। प्रेम के विभिन्न पक्षों को उभारने के साथ ही स्त्री और पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों को रूपायित किया है। जीवन के सुखदुख, हर्ष विषादमयी विविध अनुभूतियों के चित्र इसमें अंकित हैं। 'जिन्दगी और गुलाब के फूल' कहानी संग्रह में संकलित कहानी 'वापसी' (1960) में संयुक्त परिवार की टूटती हुई परम्परा को दर्शाया गया है। प्रस्तुत कहानी पारिवारिक के समन्वय सामंजस्य को तोड़ती हुई सामंती सुखबोध की तलाश की जीवंत तस्वीर है। गंगाधर बाबू को अवकाश प्राप्ति के बाद घर पहुंचते ही महसूस होने लगता है कि परिवार के लिए वे एक बाहरी आदमी ही नहीं बल्कि बिल्कुल फालतू भी हैं। उन्होंने अपनी बेशकीमती उम्र घर से दूर रह कर कमाई करने में व्यतीत कर दी, ताकि परिवार को किसी प्रकार की कभी कमी महसूस न हो, लेकिन जब वे एक सुन्दर-सुखद घर का सपना संजोए घर लौटते हैं तो पाते हैं कि घर परिवार बिल्कुल अपने ही ढंग से चल रहा है, जिसमें बहू-बेटे और बेटी की अपनी-अपनी स्वतंत्रता है, पत्नी भी उन्हीं की जिम्मेदारियों को निभाने भर में अपने दायित्व की इतिश्री समझती है। बार-बार दुखी और आहत होते हुए अपने मन ही मन गंगाधर बाबू को अपना वही जीवन याद आता है, जिसे छोड़कर वे सुन्दर सपने संजोकर घर लौटे थे। अपनों के बीच उन्होंने हर परिस्थिति से सामंजस्य बिठाने की कोशिश की, किन्तु निराशा और असफलता ही हाथ लगी। गंगाधर बाबू का अकेलापन आधुनिक जीवन के बीच उभरता हुआ 'विशेषतापूर्ण अकेलापन' है, जिसे अपनाने के लिए वे अभिशप्त हैं। निःसंदेह 'वापसी' कहानी निम्न मध्यवर्गीय शहरी परिवार की अति यथार्थवादी कहानी है, जिसमें पारिवारिक विघटन के दर्द को बखूबी महसूस किया जा सकता है। गहरी संवेदनाओं को स्पर्श करती 'वापसी' कहानी में आधुनिकभाव के दर्शन होते हैं।

उषा प्रियम्वदा द्वारा रचित 'जिंदगी और गुलाब के फूल' कहानी संग्रह में व्यक्ति की उस दशा का चित्रण है, जिसमें व्यक्ति गुलाब के फूलों की भांति सुन्दर मधुरकोमल कल्पनाएं तो अवश्य करता है, किन्तु यथार्थ के धरातल पर वे सारी कल्पनाएं बिखर कर रह जाती हैं। प्रेम की अनुभूति का मोहभंग उसे जीवनपर्यंत सताता और रुलाता है। प्रस्तुत संकलन की मुख्य कहानियों में 'दो अंधेरे', 'मोहबंध', 'कच्चे धागे', 'कंटीली छांह', 'दृष्टिदोष' शीर्षक कहानियों में नारी की उस विवशता का चित्रण है, जिसमें उसके कोमल मधुर सपने समाज के कठोर नियमों से टकराकर टूट जाते हैं। 'मोहबंध' की अचला आधुनिक शहरी परिवेश में जीवन व्यतीत कर रहे देवेन्द्र और नीलू जैसे चरित्रों से मिली निराशा के परिणाम स्वरूप उत्पन्न घुटन और कुंठा की शिकार है, जो विवाह कर लेने के बाद भी अकेलेपन और अजनबीपन की समस्याग्रस्त जिन्दगी जी रही है। वस्तुतः दो अलग मानसिक स्थितियों वाली नारी पात्रों के माध्यम से नारी और पुरुष के परस्पर बदलते सम्बंधों की चर्चा इसमें है। महानगरों में एक और असह्य पीड़ा व्यक्ति को सताती है कि यहाँ सम्बन्धों की गंध और ऊष्मा बिल्कुल ही गायब रहती है। 'छुट्टी का एक दिन' ऐसी कहानी है जिसमें माया का अकेलापन पूरी शिद्दत से उभर कर सामने आया है। 'चांद चलता रहे' की रोहिणी के माध्यम से प्रेम के उस स्वरूप को दार्शाया है, जिसमें किसी को प्यार करना अपने को दुख देना है। इसमें मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रेम के उन्मुक्त रूपों का चित्रण है, जिसमें नारी अकेलेपन की पीड़ा की शिकार है, जो महफिलों और बड़ी-बड़ी रंगीन पार्टियों में समय व्यतीत करने के बाद भी अपने जीवन में मरुस्थल सी शुष्कता महसूस करती है। 'जाल' कहानी के माध्यम से स्थापित किया गया है कि प्रेम में स्त्री को ही नहीं, बल्कि पुरुष को भी मोहभंग की स्थिति से गुजरना पड़ता है। नायिका कौमुदी आधुनिक विचारों वाली भौतिकतावादी एक

स्वतंत्र नारी है, जिससे विवाह करने के बाद पुरातनपंथी पति राजेश्वर अपने को मकड़ी के जाले में फंसा पाता है, जिसके तार दूर-दूर तक बहुत सुकुमार और महाआकर्षक लगते हैं, किन्तु अपना जीवन तो बिल्कुल निरर्थक लगने लगता है। 'कच्चे धागे' में भी कथाकार ने मोहभंग की स्थिति को ही आधार बनाया है।

उषा प्रियम्वदा द्वारा रचित कहानियों में न केवल शैलीशिल्प के स्तर पर नवीनता दृष्टिगोचर होती है, बल्कि संवेदनाओं और मान्यताओं की दृष्टि से भी नवीनता और स्वाभाविकता के दर्शन होते हैं। प्रेम में प्राप्त असफलता की अनुभूति जीवन को किस हद तक अस्तित्वहीन कर देती है, इस मर्मस्पर्शी वेदना को रेखांकित करने में सफल रहा है 'जिन्दगी और गुलाब के फूल' कहानी संग्रह। इस कथा संकलन में आधुनिकता बोध की विविध परिणतियों का अपनी तमाम अच्छाइयों और बुराइयों के साथ चित्रित किया गया है। इसमें घुटन, संत्रास, अजनबीपन, ऊब, अकेलापन, मूल्य-संकट और मृत्यु बोध के साथ-साथ जीवन में आए हुए अन्य बदलाओं की तस्वीर देखी जा सकती है।

उषा प्रियंवदा के कथा-संग्रह 'कितना बड़ा झूठ' की तमाम कहानियों में प्रवासिनी भारतीय महिलाओं का जीवन-चित्रण है, जो भावी रंगीन जीवन और महत्त्वाकांक्षाओं की आस में अपना देश छोड़कर विदेशी परिस्थितियों और वास्तविकताओं से टकराती हैं। विवाहेतर सम्बन्धों को आधार बनाकर लिखी गई 'प्रतिध्वनियां' एवं 'स्वीकृति' आदि कहानियों में दाम्पत्य जीवन की नीरसता और दिखावेपन को चित्रित किया गया है। 'एक कोई दूसरा' कहानी संग्रह नारी के अकेलेपन की पीड़ा और बदलते हुए आधुनिक परिवेश में पति-पत्नी के जीवन- सम्बन्धों को रेखांकित करता है। 'झूठा-दर्पण' कहानी उस विवाहित जीवन का प्रतीक है, जो सबको झुठला देता है। वस्तुतः इसमें वैवाहिक जीवन की निरर्थकता पर करारा व्यंग्य भी है। कहानी की मूल संवेदना अमृता के अकेलेपन, उदासी, बेबसी एवं पराजय पर केन्द्रित है। अमृता का संवेदनशील हृदय मम्मी-डैडी के अलग-अलग रहने और एक-दूसरे पर विश्वास न करने से बेहद आहत है। वह वैवाहिक सम्बंधों के बारे में साफ शब्दों में कहती है -- "ऐसे सम्बन्धों पर मेरी आस्था नहीं रही मीरा! विवाह बहुत कुछ मांगता है, मुझमें न कोई चाव बचा है, न अरमान। ऐसी ही रहती आयी हूँ ऐसे ही रहूँगी।" किन्तु अंत में विवाह की स्वीकृति देकर वह स्वयं को पूर्ण रूप से अदृश्य पर छोड़ देती है। इस रूप में कथाकार ने नारी जीवन की विवशता, घुटन, दिशाहीनता आदि का जीवंत चित्र अंकित किया है।

'कितना बड़ा झूठ' संग्रह की कहानी 'कोई नहीं' में अक्षय और नमिता की असफल प्रेम कहानी है जो लंबे अंतराल के बाद मिलने पर भी अतीत को जगाने में विफल रहते हैं। प्रस्तुत कहानी में कथा नायिका नमिता के जीवन की रिक्तता, उसकी उदासी, जिस सूक्ष्मता के साथ कलात्मक अभिव्यक्ति पा गई है, उसके कारण यह एक अति सफल कहानी साबित हुई है। 'चांदनी में बर्फ पर' कहानी में दो संस्कारों की टकराहट है, जिसमें विदेशी पत्नी अपने प्रेमी के साथ निःसंकोच जाती है, किन्तु भारतीय नारी अपने प्रेमी का निमंत्रण अस्वीकार कर देती है। 'सागर पार का संगीत' में स्त्री के अकेलेपन से मुक्ति पाने की प्रबल चेष्टा है। कथाकार ने विविध भावों को मार्मिकता और सहजता के साथ भारतीय और विदेशी परिवेश में टकराहट उत्पन्न करने वाली द्वन्द्वात्मक परिस्थितियों को रेखांकित किया है। महानगरीय जीवन की विविधोन्मुखी समस्याओं में टूटती नारी की मनःस्थिति का अत्यंत सशक्तता के साथ कथा लेखिका ने चित्रण किया है। महानगरीय परिवेश में आकर वहाँ के जीवन से अपनी संगति न बिठा पाने की पीड़ा और बेचैनी उषा प्रियम्वदा की कहानियों में बड़ी प्रामाणिकता से अभिव्यक्त हुई है। आधुनिक

विचारों के प्रभाव स्वरूप मनुष्य में जाग्रत अस्तित्व बोध ने नैतिकता, आध्यात्मिकता, पाप-पुण्य और भाग्य आदि में अनास्था व्यक्त की है, उसके स्थान पर वैयक्तिक स्वच्छंदता, उपभोग की स्वतंत्रता, असामाजिकता, नास्तिकता और आचार विरोध को प्राथमिकता प्रदान की है। निःसंदेह उषा प्रियम्वदा ने पूरी ईमानदारी के साथ समाज की कुरीतियों, विसंगतियाँ, विडम्बनाओं और स्थितियों-परिस्थितियों को अपनी कहानियों में जीवंत रूप में अंकित किया है। सम्बन्धों में झलक रही सामाजिक आर्थिक चेतना के विविध रूपों और व्यवहारों को उषा प्रियम्वदा की कहानियों में नजदीक से देखा परखा जा सकता है। स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज में नारी जीवन में जो अकस्मात परिवर्तन आए हैं और जिन जीवन मूल्यों को स्वीकारने के लिए आज की नारी बिना सोचे समझे लक्ष्मण रेखा का उल्लंघन कर रही है, उसके क्या-क्या दुष्परिणाम दिखने को अक्सर मिलते हैं, इसका सही और सटीक आकलन भी उषा प्रियंवदा की कहानियों में हुआ है। उन्होंने जर्जर मान्यताओं, निरर्थक परम्पराओं और रुढ़ियों को अस्वीकार कर नये मानवीय मूल्यों और सामाजिक पारिवारिक मर्यादाओं को भी मान्यता दी है, इसमें संदेह नहीं। इनकी कहानियों में बदलती स्त्री की छवि उसकी जागरूकता और स्वच्छंदता के साथ बदलते समय और समाज की स्थिति का चित्रण है। उन्होंने कहानियों में जिस प्रकार नारी और पुरुष दोनों के आंतरिक द्वन्द्व की एक-एक परत को अत्यंत ही बारीकी और सहजता से उभारा है, वह शायद अन्यत्र दुर्लभ है। निश्चय ही उन्होंने नर-नारी के परस्पर संघर्षशील स्वरूप को उजागर किया है। विशेषतया नारी जीवन की बारीकियां चित्रित करना उनकी सबसे बड़ी मौलिक विशिष्टता है।

हिन्दी विभाग
संत जेवियर्स कॉलेज, रांची-834001
फोन - 09431574250

●

कर्म पूजा बने

घर से मंदिर-मस्जिद है बहुत दूर
चलों यों कर लें,
किसी रोते हुए बच्चे को
हंसाया जाये।

कवि की इस सादगी से कही बात यदि सध जाए तो जीवन ही बदल जाए।

हम पूजा, आराधना या नवधाभक्ति के विविध रूपों में अपने को खोए, भूले रहते हैं और भूल जाते हैं– सामने है– पूजा के जीवंत स्वर्णि अवसर। इनको यदि अपना लें तो कहीं जाने की जरूरत नहीं।

पहला काम है– अपने को भी हंसाना। अपने को खुश रखना प्रभु-सेवा है। घर गृहस्थी में प्रभु का दर्शन करना, पास पड़ोस के दुख-दर्द में शामिल होना, राह भूले लोगों को राह बताना, किसी निराश व्यक्ति को दो मीठे बोल सुनाना, किसी गिरे को उठाना, किसी अच्छे काम के लिये किसी की पीठ थपथपाना– ये भी भगवद्सेवा के विविध रूप हैं।

हमारे सभी काम पूजा हैं– शर्त है– इनमें अहंकार न हो, इनमें पाने का भाव न हो, अपने को लुटाने का रस भरा हो। जो भी हम करें– यह भाव से करें– 'स्वाहा' का स्वर निनाद हो– 'सु-आहा!' चलो यों कर लें।

प्रेमचंद और अमरकांत
(‘कफन’ व ‘जिन्दगी और जोंक’ के विशेष संदर्भ में)

देवस्मिता बल

‘प्रेमचन्द’ हिन्दी साहित्य जगत में एक ऐसा नाम है जिनके साहित्य में, हमें पूरे हिन्दी साहित्य का सारांश मिल जाएगा। उनकी विशेषता यही रही कि उन्होंने साधारण व्यक्तियों को ही अपने साहित्य के केन्द्र में रखा। प्रेमचंद यथार्थवादी थे, उनकी उसी यथार्थवादी परंपरा को आगे बढाते हुए अमरकांत ने भी अपने साहित्य के केन्द्र में साधारण लोगों को ही रखा। दोनों ने ही शोषण एवं गरीबी का जम कर विरोध किया, शोषित साधारण लोगों को अपने साहित्य के केन्द्र में रखा और कोशिश की कि शोषण जैसी कुप्रथा समाज से जड़ से मिट सके।

प्रेमचंद की कहानियों की कथावस्तु में मुख्य रूप से हमें साधारण लोगों की जीवनगाथा, उनकी समस्या, उनकी आशा-आकांक्षा और तत्कालीन समाज में फैली शोषणवृत्ति का ज्वलंत रूप दिखाई देता है, वहीं अमरकांत भी अपनी कहानियों में निरीह, सरल लोगों पर हो रहे अत्याचार, शोषण तथा उनके जीवन के हर कोने की विस्तार से चर्चा करते हैं।

प्रेमचंद की सबसे लोकप्रिय कहानी ‘कफन’ है। प्रेमचंद ने ‘कफन’ की सर्जना कुछ इस प्रकार की है कि यह पाठक के हृदय में संवेदना की एक छोटी सी लहर छोड़ देती है। ‘कफन’ में प्रेमचंद परजीवी वर्ग की बात करते हैं, जिनका जीवन पूर्ण रूप से दूसरों पर ही निर्भर है। ये लोग अक्सर संवेदनहीन, आलसी, स्वार्थी बन जाते हैं जिसका मुख्य कारण भूख एवं गरीबी है। इनका जीवन मजदूरी एवं ऋण में ही कट जाता है, जैसे कि मजदूरी करना एवं ऋण का भार पुत्र को पिता से विरासत में मिला हो। गरीबी तब तक इनका पीछा नहीं छोड़ती, जब तक इनके खून की आखरी बूंद खत्म न हो जाए। इनकी गरीबी का मुख्य कारण है उच्च पूंजीपति वर्गों का शोषण, अशिक्षा एवं इनकी आर्थिक विपन्नता। ये लोग इतने मजबूर होते हैं कि अगर एक दिन भी मजदूरी न करें तो भूखे पेट ही गुजारा करना पड़ता है। अशिक्षित होने के कारण अक्सर ठगे भी जाते हैं। प्रेमचंद इसी माहौल में पले-बढ़े. उन्होंने इस प्रकार के वातावरण को जीया था, शायद इसलिए उनकी कलम से यह दर्द, कहानी में रूपांतरित हो गया एवं पाठकों के सामने एक हृदयस्पर्शी रचना बन कर आ गया। ‘कफन’ परजीवी वर्ग पर आधारित एक ऐसी ही कहानी है।

‘कफन’ भारतीय रीति रीवाजों और कर्मकाण्डों पर प्रखर व्यंग्य है, इसमें प्रेमचंद ने यह दर्शाया है कि किस प्रकार भूख, शोषण, बिमारी, गरीबी मनुष्य को पशु बना देती है। इनका

इस प्रकार का जड़ बनना समाज को दिशाहीनता की ओर ले जाता है। समाज की शोचनीय स्थिति की यह कहानी एक उदाहरण है। कफन के मुख्य पात्र 'घीसू' और 'माधौ' हैं। कफन कहानी की शुरुआत घीसू एवं माधौ की गरीबी से होती है, ऐसा लगता है जैसे वे पीढ़ी-दर-पीढ़ी से विपन्न हैं। सम्पत्ति के नाम पर इनके पास केवल दो चार बरतन ही होते हैं। पूंजीपति उच्च वर्गों का शोषण धीरे-धीरे इन्हें आलसी एवं निठ्ठला बना देता है। 'घीसू'-'माधौ' के चारों तरफ जो भी लोग रहते थे मजदूरी करते थे, उनकी हालत भी 'घीसू' - 'माधौ' वैसी ही रही। 'बुधिया' जो घीसू की पुत्र-वधू तथा माधौ की पत्नी है, किसी तरह से इनका पेट पाल रही थी। एक दिन जब वह प्रसव पीड़ा से छटपटा रही थी, दोनों में से कोई भी बुधिया के पास नहीं जाता, न ही उसकी दवा-दारू का सोचते हैं। दोनों बाहर रखे भुने हुए आलू पर नजर गड़ाये बैठे रहते हैं कि कहीं बुधिया को संभालने के चक्कर में, दोनों में से कोई एक पूरा आलू न खा जाए। भूख इन्सान को कितनी कठोर बना देती है, इसका यह हृदयविदारक दृश्य है। अंत में बुधिया अपने प्राण त्याग देती है। उसकी मौत पर बाप-बेटे खूब रोते हैं, फिर वे बुधिया के अंतिम संस्कार के लिए चंदा इकट्ठा करते हैं। गाँव वाले भी अपनी सामर्थ्य के अनुरूप कुछ पैसे देते हैं। बाप-बेटे बाजार जाते हैं, वहाँ चंदे से 'कफन' खरीदने की जगह वे तली हुई मछलियां एवं शराब खरीदते हैं। दोनों नशे में चूर समाज के रीतिरिवाज को कोसते हैं कि कैसा बुरा रिवाज है कि जिसे जीते जी तन ढंकने को चीथड़ा भी न मिला उसे मरने पर 'कफन' चाहिए। वे अपने कुकर्म को छिपाने के लिए, इसका उत्तरदायी समाज को बना कर कोसते हैं। 'कफन' शीर्षक प्रतीकात्मक है, 'कफन' प्रतीक है गरीबी और भूख से जड़ होते आदमी और समाज की कर्मकाण्डवादी व्यवस्था एवं उसकी संवेदनहीनता का, उसकी विसंगत व्यवस्था का और आदमी के श्रम और फिर खुद के वजूद से कटकर परजीवी बनने का है।

प्रेमचन्द के निधन के बाद हिन्दी कहानी में उनके द्वारा सृजित परिवेश, संवेदना-शिल्प शिथिल पड़ गया। पश्चात अमरकांत ने प्रेमचंद की परंपरा को आगे बढ़ाया। अमरकांत 'नयी कहानी' दौर के प्रमुख कथाकार हैं। अपनी लेखनी के माध्यम से उन्होंने सदैव यही कोशिश की कि कोढ़ी परंपराओं एवं शोषण से समाज मुक्त हो। अमरकांत की सबसे लोकप्रिय कहानी 'जिन्दगी और जोंक' है।

'जिन्दगी और जोंक' में अमरकांत 'रजुआ' नाम के एक भीखमंगे का चित्रण करते हैं। 'रजुआ' कहीं से आकर मोहल्ले में अपना डेरा जमा लेता है। एक दिन जब मोहल्ले में रहने वाले शिवनाथ बाबू के घर से साड़ी चोरी हो जाती है, तो अजनबी होने के नाते सब इस भीखमंगे पर शक करते हैं, उसे खूब पीटते हैं। पर थोड़ी देर बाद पता लगता है कि साड़ी घर पर ही है। तब शिवनाथ बाबू अपराधबोध महसूस करने के बजाय बेफिक्र होकर कहते हैं कि नीच और नींबू को दबाने से हो रस निकलता है। उनका यह कहने का आशय है कि जैसे सामान्य, गरीब वर्ग केवल शोषण के लिए ही बने हों। इतना सबकुछ होने पर भी वह भीखमंगा मोहल्ला छोड़कर नहीं जाता। जो भी बचा-खुचा, बासी - जूठा खाना जो पहले जानवरों को दिया जाता था, अब 'रजुआ' को दिया जाता, धीरे-धीरे वह सबकी सहानुभूति का पात्र बन जाता है। धीरे-धीरे उससे सब अपना-अपना काम लेने लगते हैं, हर कोई उस पर अपना हक जमाने लगता है। उससे मोहल्ले वाले इच्छानुसार काम लेते किन्तु मजदूरी उसे न के बराबर देते हैं। उसके काम करने की कोई हद न होती, किसी एक का काम खत्म होने पर दूसरा अपने काम के लिए बुला लेता। रजुआ निरीह था, इसलिए वह मोहल्ले की औरतों से स्नेह और अपनापन का रिश्ता जोड़ लेता है। किन्तु यहाँ भी उसके साथ अन्याय होता है, जिस 'बरन की बहू' से वह 'बुआ' का रिश्ता जोड़ता है जिसके पास वह अपनी कमाई जमा कराता

है, वही उसकी सारी कमाई लूट लेती है। वह कह देती है कि उसके पास रजुआ के कोई पैसे नहीं हैं।

'जिन्दगी और जोंक' का रजुआ आर्थिक रूप से विपन्न, अशिक्षित एवं समाज द्वारा उपेक्षित पात्र है। वह समाज का हिस्सा जरूर है, किन्तु समाज उसे मनुष्य की कोटि में नहीं गिनता। उसके साथ अमानवीय व्यवहार, शोषण सब होता है। वह हमेशा दूसरों की स्वार्थपूर्ति का साधन मात्र बन कर रह जाता है। यह समाज उसका भी है पर यहाँ उसका कोई मान, प्रतिष्ठा नहीं है। रजुआ में मोहल्ले में रहनेवाली पगली के प्रति संवेदनशीलता है, वह पगली के लिए लफंगों से लड़ता है। कहानी के अंत में अमरकांत प्रतीकात्मक ढंग से कहते हैं, "वह जिन्दगी से जोंक की तरह चिपटा था, लेकिन जोंक वह था या जिन्दगी? वह जिन्दगी का खून चूस रहा था या जिन्दगी उसका?... मैं तय नहीं कर पाया।"[3] कहने का अभिप्राय यह है कि इतना निर्मम, पशुवत या उससे भी बदतर व्यवहार होने पर भी, समाज में बुरी तरह से शोषण का शिकार होने के बावजूद भी ऐसा क्या है जिसकी वजह से रजुआ जिन्दा है? साथ ही साथ सभ्य, शिक्षित समाज में रहकर भी उच्च वर्गों की एक साधारण व्यक्ति के लिए मनोवृत्ति को दर्शाता है। यहाँ भारतीय समाज व्यवस्था में विषमता और अछूतों तथा दलितों के प्रति उच्चवर्गों की घृणा-भावना का चित्रण किया गया है। कहानी का सार यही है कि जो लोग भीख मांगकर कुछ काम करके अपना गुजारा करना चाहते हैं, समाज उन्हें भी जीने नहीं देता, पल-पल उनका शोषण करता है। इतनी यंत्रणा के बाद भी मनुष्य जीता है, उसकी जीने की इच्छा खत्म नहीं होती, वह किसी तरह भी जीता है।

प्रेमचंद और अमरकांत समकालीन नहीं थे, फिर भी दोनों ने अपनी कहानियों के माध्यम से लगभग एक ही कोशिश की है कि किसी तरह समाज की दृष्टि इन साधारण, विपन्न, उपेक्षित पात्रों पर पड़े ताकि समाज से इस शोषणवृत्ति, जोंकवृत्ति को मिटाया जा सके और एक बेहतर समाज का निर्माण हो सके। 'कफन' और 'जिन्दगी और जोंक' की मुख्य समस्या है बेरोजगारी। बेरोजगारी समाज की एक ज्वलंत समस्या है। हर युग में बेरोजगारी हर देश एवं काल में हमेशा से समस्या रही है। बेरोजगारी का तात्पर्य उस अवस्था से है जिसमें कोई योग्य तथा इच्छुक व्यक्ति प्रचलित पारिश्रमिक दरों पर कार्य मांगता हो और उसे कार्य न मिलता हो। देश के लिए यह बहुत बड़ा अभिशाप है -जहाँ एक ओर गरीबी, भुखमरी तथा मानसिक अशांति का शिकार होना पड़ता है वहीं दूसरी ओर नवयुवकों में आक्रोश, तनाव, कुंठा तथा अनुशासनहीनता को प्रोत्साहन मिलता है। परिणामस्वरूप समाज में चोरी, डकैती, हिंसा, तस्करी, अपराधवृत्ति जैसी असामाजिक प्रवृति को बल मिलता है, निर्धनता बढ़ने के कारण वर्गभेद उत्पन्न होता है और अमीरी-गरीबी के बीच खाई चौड़ी होती है और अमीरी-गरीबी के भेद के कारण समाज में अशांति फैलती है।

'कफन' में घीसू-माधौ के निठल्ले होने का मुख्य कारण है समाज, जब वे देखते हैं कि जो काम करते हैं उनकी हालत भी खास अच्छी न थी, तो वे निठल्ले बन जाते हैं। प्रेमचंद कहते हैं - "जिस समाज में रात-दिन मेहनत करने वालों की हालत उनकी हालत से कुछ बहुत अच्छी न थी, और किसानों के मुकाबले में वे लोग, जो किसानों की दुर्बलताओं से लाभ उठाना जानते थे, कहीं ज्यादा सम्पन्न थे, वहाँ इस तरह की मनोवृत्ति का पैदा हो जाना कोई अचरज की बात न थी।"[4] यहाँ वे यह महसूस करते हैं कि कम से कम उन्हें किसानों की-सी जी-तोड़ मेहनत तो नहीं करनी पड़ती, और उनकी सरलता और निरीहता से दूसरे लोग फायदा तो नहीं उठाते! यही स्थिति 'जिन्दगी और जोंक' के रजुआ की है, रजुआ निरीह होता है इसलिए सब अपना काम उससे निकलवाते हैं। "रजुआ पर किसी का स्थायी अधिकार निश्चित न हो सका। उसकी सेवाओं की उपयोग-सम्बन्धी

खींचातानी से उसका समाजीकरण हो गया। मोहल्ले का कोई भी व्यक्ति उसे दो-चार रुपये देकर स्थायी रूप से नौकर रखने को तैयार न हुआ, क्योंकि वह इतना शक्तिशाली कतई न था कि चौबीस घंटे नौकर की महान जिम्मेदारियाँ संभाल सके।"[5] शायद 'कफन' के घीसू-माधौ ने स्थिति को भांप लिया था, इसलिए उन्हें निठल्ला बनना ज्यादा उचित लगा।

दोनों कहानियों में हमें यह देखने को मिलता है कि मनुष्य कैसे पशुत्व की ओर गति कर रहा है। वह धीरे-धीरे पशु जैसा संवेदनहीन, जड़ बनता जा रहा है, जैसे 'कफन' में 'बुधिया' की पीड़ा को न महसूस कर पाना, भूने हुए आलू के लिए बाप-बेटे का लड़ना। 'जिन्दगी और जोंक' में रजुआ का पशुवत खंडहर में रहना, पशु जैसे चापुड़-चापुड़ खाना, मोहल्ले के लोगों का उससे अमानवीय व्यवहार करना, पशु की भाँति बचा-खुचा खाना उसे देना आदि समाज को कोढ़ बना रहा है। मनुष्य को मनुष्य न समझकर पशु की तरह उसके साथ व्यवहार करना, समाज के लिए कतई ठीक नहीं है। धीरे-धीरे मनुष्य सभ्य होता जा रहा है, परंतु उसमें सात्विक गुणों का अभाव होता जा रहा है। प्रेमचंद व अमरकांत चाहते हैं कि समाज की कमियाँ दूर हों ताकि समाज स्वस्थ रहे।

संदर्भ

1. मिश्र शिवकुमार; कहानीकार प्रेमचंद : रचना दृष्टि और रचना शिल्प, प्रथम संस्करण 2006, प्रयागराज, पृ.-206। **2.** अमरकांत, अमरकांत की सम्पूर्ण कहानियाँ, भाग-1, दूसरा संस्करण 2016, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली -110003, पृ.-71। **3.** वही पृ.-86। **4.** मिश्र, शिवकुमार, वही पृ-101। **5.** अमरकांत, अमरकांत की सम्पूर्ण कहानियाँ, वही पृ.-73।

शोधछात्रा-हिन्दी विभाग
रेवेंशा विश्वविद्यालय,
कटक (उड़ीशा) 753003
मो.- 7008390829
ईमेल - debasmitabal26@gmail.com

आसक्ति का सर्वथा त्याग

भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेद।

एक ज्ञानी हो तो बहुत से ज्ञानी बन जाते हैं। जैसे एक दीपक हो तो उससे अनेक दीपक जल सकते हैं। बत्ती और तेल होना चाहिए, श्रद्धा बत्ती है एवं प्रेम (स्नेह) तेल है – इन दोनों की आवश्यकता है। चाहे दीपक न हो बत्ती हो तो प्रकाश हो जायेगा। अतः श्रद्धा-प्रेम होना चाहिए। हर एक आदमी को यह ध्येय बना लेना चाहिए कि परमात्मा की प्राप्ति हीनी चाहिए। शुद्ध भाव बहुत जल्दी काम करता है। स्वार्थ की प्राप्ति होनी चाहिए। शुद्ध भाव बहुत जल्दी काम करता है। स्वार्थ को लेकर साधन करे तो ज्यादा समय में काम बने। स्वार्थ परमार्थ में लाञ्छन लगानेवाला है। प्रेम में स्वार्थ आया तो प्रेम नहीं, वह कलंक है। आदमी को चाहिए कि ईश्वर के साथ या अपने आपस में स्वार्थ का संबंध हो तो स्वार्थ को निकाल दें। आत्मा के कल्याण का स्वार्थ बड़ा अच्छा है। दूध में जितना पानी होगा, उतना समय पानी जलने में लगेगा। अतएव स्वार्थ-आसक्ति की मात्रा की अधिकता होने से स्तया में समय अधिक लगेगा।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ।। (गीता : 4-20)

जो पुरुष समस्त कर्मों में और उनके फल में आसक्ति का सर्वथा त्याग करके संसार के आश्रय से रहित हो गया है और परमात्मा में नित्य तृप्त है, वह कर्मों में भलीभाँति बर्तता हुआ भी वास्तव में कुछ भी नहीं करता।

छत्तीसगढ़ी साहित्य : इतिहास और प्रवृत्तियाँ

श्रीमती माग्रेट कुजूर

स्वतंत्रता पश्चात छत्तीसगढ़ी साहित्य में कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, व्यंग्य आदि व्यापक पैमाने पर लिखे जा रहे हैं। छत्तीसगढ़ी साहित्य का इतिहास 1000 ई. से है, तथा भारतीय साहित्य में छत्तीसगढ़ी साहित्य के अवदान को समझना है तो उसके गाथा युग एवं मध्य युग को समझना अवश्यक हो जाता है, जिसने आधुनिक युग के लिए पृष्ठभूमि तैयार की है। यह राज्य जनजातियों की दृष्टि से एक संपन्न राज्य है। उनकी बोली, पर्व-त्यौहार, रीति-रिवाजों में हमें एक वृहद व व्यापक संस्कृति की झांकी देखने को मिलती है और छत्तीसगढ़ी साहित्य इनकी संस्कृतियों का जीवंत रूप है। स्वतंत्रता पश्चात छत्तीसगढ़ के साहित्यकार देश प्रेम की भावना, मानवतावाद, विश्व बंधुत्व, प्रेम सौंदर्य, आध्यात्म एवं प्रकृति चित्रण आदि विषयों पर अपनी लेखनी को चलाकर छत्तीसगढ़ी साहित्य को समृद्ध कर रहे हैं।

छत्तीसगढ़ी भाषा का विकास ईसा से छठी सदी पूर्व माना गया है, इसकी पूर्व दिशा में मागधी प्राकृत एवं उत्तर पश्चिम दिशा में शौरसेनी प्राकृत के शिलालेख प्राप्त हुए हैं और इन दोनों भाषाओं के मिलने के बाद अर्धमागधी भाषा का जन्म हुआ जिससे वर्तमान छत्तीसगढ़ी भाषा का विकास हुआ जिस पर जनजातियों द्वारा बोली जाने वाली बोलियों के अलावा उड़िया व मराठी बोलियों का भी प्रभाव पड़ा है। छत्तीसगढ़ी साहित्य की विकास यात्रा को डॉ. नरेंद्र देव वर्मा ने निम्न कालक्रमों में विभाजित किया है। (1) गाथा युग (ई. सन् 1000 - 1500), (2) भक्ति युग (ई. सन् 1500 - 1900), (3) आधुनिक युग (ई. सन् 1900 से अब तक)।

(1) **गाथा युग -** (सन् 1000 - 1500) : इस युग में प्रेम और वीरता का वर्णन करने वाले वीरगाथा-काव्यों का सृजन हुआ। ये गाथाएँ मौखिक परंपरा पर आधारित थी जिसे आधुनिक युग में लिपिबद्ध किया गया है। प्रेम गाथाओं में प्रमुख हैं - अहिमन रानी, केवला रानी, राजा वीरसिंह की गाथाएँ। ये गाथाएँ प्रबंध काव्य परंपरा पर आधारित होती थी। तंत्र-मंत्र व अलौकिक शक्तियों के चित्रण के साथ-साथ धार्मिक व पौराणिक गाथाएँ भी रची गई हैं। 'फूलवासन' में सीता और लक्ष्मण की कथा है। इस में सीता जी ने लक्ष्मण से सपने में देखे गये फूलवासन फूल को लाने को कहती हैं। 'पंडवानी' में द्रौपदी हरतालिका (तीजा) व्रत के अवसर पर अपने मायके जाने की इच्छा करती है। इस युग के प्रमुख साहित्यकार दलराम

राव, मानिक राव, सुंदर साव, कमल राव आदि हैं।

(2) भक्ति युग (सन् 1500 - 1900) इस युग में भक्तिपरक रचनाओं का सृजन अधिक हुआ, यद्यपि वीर रस एवं अन्य विषय की रचनाएँ भी लिखी गई। वीर गाथाओं में फूलकुंवर देवी गाथा, कल्याण साय की गाथा, गोपल्ला गीत. नगेसर कइना, ढोला मारू आदि प्रमुख हैं जो कि प्रबंध काव्य शैली में हैं। छत्तीसगढ़ में कबीर पंथ का विस्तार इसी युग में हुआ। कबीर पंथ की रचनाएँ रहस्यवादी हैं किन्तु इनमें प्रेम, भक्ति एवं माधुर्य का संगम है। कबीर पंथी संत धर्मदास कबीरधाम (छत्तीसगढ़ का एक जिला) के निवासी थे उनकी रचनाएँ छत्तीसगढ़ी में चौका गीत, लोक गीत या लोक भजन के रूप में प्रतिष्ठित हैं। यही कारण है कि श्री हेमनाथ ने आपको छत्तीसगढ़ी भाषा का प्रथम कवि माना है। आपके पदों का संकलन स्व. हरि ठाकुर जी के द्वारा किया गया है। इस क्रम में सतनाम पंथ की रचनाएँ नैतिक एवं संसारिक मूल्यों व सांसारिक संबंधों की निःसारता एवं ईश कृपा की प्राप्ति की भावना का चित्रण करती हैं। छत्तीसगढ़ में सतनाम पंथ को मानने वालों की संख्या बहुत अधिक है। प्रमुख सहित्यकार गोपाल मिश्र, माखन मिश्र, प्रहलाद दुबे, लक्ष्मण कवि, बाबू रेवाराम आदि हैं।

(3) आधुनिक युग (सन् 1900 से अब तक) हिन्दी के आधुनिक काल के समान ही छत्तीसगढ़ी साहित्य में आधुनिक काल में कविता, नाटक, कहानी, उपन्यास, व्यंग्य, पत्रकारिता आदि का विकास हुआ है। छत्तीसगढ़ी में लोक साहित्य, लोक संस्कृति व हिन्दी की शिष्टकाव्य परंपरा का समन्वित रूप है। छत्तीसगढ़ी* शिष्ट साहित्य का आरंभ 20वीं सदी से माना गया है। यदि छत्तीसगढ़ी लोक साहित्य की परंपरा को अलग कर दिया जाये तो छत्तीसगढ़ी काव्य परंपरा का इतिहास सौ वर्षों तक का ही होगा। लिपिबद्ध रचनाएँ सर्वाधिक इसी युग में प्राप्त हैं तथा छत्तीसगढ़ी साहित्य सभी विधाओं से ओत-प्रोत रहा है, जिसका प्रारंभ पं. लोचन प्रसाद पांडे ने किया था। पं. सुंदरलाल शर्मा को ठेठ छत्तीसगढ़ी भाषा में काव्य सृजन का श्रेय दिया जाता है। इस युग में काव्य सृजन अधिक हुआ है, जिसमें मासिक पत्रिकाओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। आज नवीन साहित्यकार छत्तीसगढ़ की साहित्यिक भूमि को सिंचित व समृद्ध कर रहे हैं।

स्पष्ट है कि छत्तीसगढ़ी साहित्य में गाथा युग में वीर एवं शृंगार रस की प्रधानता रही है तो भक्ति युग में छत्तीसगढ़ में कबीर पंथ एवं सतनाम पंथ का व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ। आधुनिक युग में छत्तीसगढ़ी साहित्य में सभी विधाएँ विकास पथ की ओर अग्रसर हैं।

स्वतंत्रता पश्चात राष्ट्र निर्माण में छत्तीसगढ़ी साहित्य का अवदान इन बिन्दुओं में उल्लेखनीय है। * छत्तीसगढ़ी साहित्य में व्याप्त देश प्रेम की भावना का सजीव चित्रण मिलता है। डॉ. खूबचंद बघेल, पं. सुंदर लाल शर्मा, माधवराव सप्रे आदि ने यहाँ की जनता में देश के लिए मर मिटने व राष्ट्रीय एकता का स्वर अपने साहित्य में उद्घाटित किया है। * छत्तीसगढ़ी साहित्य में मानवतावाद का दर्शन प्रत्येक साहित्य-विधा में हमें मानवीय पीड़ा व संवेदनाओं की अभिव्यक्ति मिलती है। यहाँ के साहित्यकारों ने किसान, मजदूर, शोषित, बालक, वृद्ध एवं अत्याचार से पीड़ित महिलाओं के दर्द को अपने साहित्य में बखूबी स्थान दिया है। * छत्तीसगढ़ी साहित्य में विश्व बंधुत्व एवं लोकमंगल की वसुधैकटुम्बकम् की भावना है। आपसी प्रेम भाईचारे की सद्भावना छत्तीसगढ़ी साहित्य में देखने को मिलती है। पंडित सुंदर लाल शर्मा "छत्तीसगढ़ के गाँधी" नाम से जाने जाते हैं, आपने गाँधी जी के विचारों को अपने साहित्य में स्थान देकर छत्तीसगढ़वासियों को सत्य व अहिंसा के अमर पाठ से अवगत कराया है।

चूँकि छत्तीसगढ़ एक नवीन राज्य है अतः यहाँ के साहित्य, शिक्षा, कृषि, उद्योग, व्यापार, निर्माण-कार्य,

सामाजिक व राजनैतिक चेतना आदि सभी क्षेत्रों में नवीनता के दर्शन होते हैं जिनका चित्रण यहाँ के साहित्यकारों ने किया है। छत्तीसगढ़ सांस्कृतिक रूप अग्रगण्य राज्य है यहाँ की संस्कृति, साहित्य, धर्म, दर्शन, कला आदि में प्रेम, सौंदर्य, आध्यात्म एवं प्रकृति का अनुपम रूप देखने को मिलता है। छत्तीसगढ़ के सहित्यकारों ने सामाजिक असमानता, शोषण, अत्याचार, भूखमरी, अस्पृश्यता, ऊँच-नीच आदि विषयों पर प्रगतिशील रचनाएँ लिखी हैं। नारी उत्थान से संबंधित रचनाओं में 'गोदना के फूल' एवं 'बेटी के विदा' आदि उल्लेखनीय हैं।

छत्तीसगढ़ी साहित्य के आधुनिक युग में गद्य की विविध विधाओं में खूब रचना हो रही हैं तथापि पद्य का क्षेत्र भी पीछे नहीं रहा है। पत्र-पत्रिकाओं में छत्तीसगढ़ी साहित्य को सम्मान के साथ प्रकाशित किया जा रहा है। छत्तीसगढ़ी भाषा के निश्चित मानकों की स्थापना के बाद भी इसका व्यापक प्रचार-प्रसार नहीं हो पाया है, परिणामस्वरूप छत्तीसगढ़ी के अनेक रचनाकार परिनिष्ठित छत्तीसगढ़ी भाषा का उपयोग न करके आंचलिक छत्तीसगढ़ी भाषा में साहित्य रचना कर रहे हैं फिर भी छत्तीसगढ़ी साहित्य का भविष्य उज्ज्वल है तथा इसका साहित्य भंडार समृद्ध होगा है।

सहायक ग्रंथ

[*लोक साहित्य के विपरीत 'शिष्ट-साहित्य' कहना अनुचित है, यह व्यक्ति-साहित्य है, इसे शिष्ट साहित्य कहते हैं तो लोक साहित्य अशिष्ट साहित्य है क्या? - संपादक**]**

1. डॉ. शर्मा तृषा (2004) छत्तीसगढ़ : इतिहास, संस्कृति एवं परंपरा, वैभव प्रकाशन अमीनपारा चौक रायपुर। **2.** डॉ. दुबे सुरेन्द्र (2005) पीरा, अभिषेक प्रकाशन विद्युत नगर दुर्ग। **3.** मिश्रा ललित (2007) युग प्रवर्तक पं. सुंदर लाल शर्मा, वैभव प्रकाशन अमीनपारा चौक रायपुर। **4.** शर्मा निधी (2009) सुन संगवारी, वैभव प्रकाशन अमीनपारा चौक रायपुर। **5.** डॉ. अग्रवाल अनसूया (2003) छत्तीसगढ़ के व्रत तिहार अऊ कथा कहिनी, शताक्षी प्रकाशन, 8 मार्केट चौबे कॉलोनी रायपुर। **6.** मस्तुरिया लक्ष्मण (2003) मोर संग चलव, वैभव प्रकाशन, 280, उद्‌भव सेक्टर4 पं. दीनदयाल उपाध्याय नगर रायपुर। **7.** साहू रामनाथ (2017) माटी के बर्तन, वैभव प्रकाशन अमीनपारा चौक रायपुर। **8.** डॉ. टंडन रमेश (2020) लोक साहित्य एवं छत्तीसगढ़ी साहित्य, सर्वप्रिय प्रकाशन प्रथम मंजिल, चर्च रोड, कश्मीरी गेट दिल्ली। **9.** डॉ. दीवान मनीष कुमार (2003) छत्तीसगढ़ी भाषा साहित्य व संस्कृति के विकास में डॉ. विनय पाठक का योगदान। **10.** शर्मा शरद (2015) मोर कोहड़ा के नार (छत्तीसगढ़ी काव्य संग्रह) वैभव प्रकाशन अमीनपारा चौक रायपुर।

सहायक प्राध्यापक हिन्दी
शासकीय महाविद्यालय, धरमजयगढ़,
जिला-रायपुर (छ.ग.)
मो.-9669213973
ई-मेल : margreatkujur@gmail.com

●

उन लोगों से हमेशा दूर रहें जो दूसरों की बुराइयां करते है,

क्योंकि एक दिन वह आप की बुराइयां करेंगे.

मूर्धन्य बांग्ला रचनाकारों से मिलने का सौभाग्य

बांग्ला के कतिपय शीर्षस्थ रचनाकारों के दर्शन और उनसे मिलने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ, जिसे मैं अपने जीवन की उपलब्धि समझता हूं। ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त बांग्ला उपन्यास 'गणदेवता' (जिसका हिंदी अनुवाद भी हुआ) के रचनाकार **श्री ताराशंकर बंद्योपाध्याय** के साक्षात का अवसर आया तब हृदय में आलोड़न पैदा होना स्वाभाविक था। 'धर्मयुग' के संपादक श्री धर्मवीर भारती के आग्रह पर इनके किसी उपन्यास के हिंदी अनुवाद पर उनसे बात करनी थी। उस समय बांग्ला की साहित्यिक पत्रिका 'देश' (साप्ताहिक) में इनका एक उपन्यास 'कीर्तिहाटेर कड़चा' (कीर्तिहाट का आख्यान) धारावाहिक प्रकाशित हो रहा था। इसी के अनुवाद की अनुमति लेने के निमित्त श्री ताराशंकर बंद्योपाध्याय से मिलने के लिए मैंने उनसे अनुमति चाही तो उन्होंने बड़ी सहृदयता से अगले दिन आने का आमंत्रण देते हुए, उन्होंने यह भी कहा कि कल ही उनका जन्म-दिन है। मेरे हर्षोल्लास की सीमा न रही। बांग्ला के इस वरेण्य कथाकार के प्रथम दर्शन से लगा कि मैं बांग्ला के एक भूमिपुत्र का साक्षात दर्शन कर रहा हूं। हठात् हिंदी के सर्वग्राही अनुपम कथा-स्रष्टा प्रेमचंदजी का स्मरण हो आया, उतने ही सहज, वाक्पटु और अनाडंबर। मैंने उनके उक्त उपन्यास के हिंदी अनुवाद की बात चलायी तो उन्होंने कहा कि यह उपन्यास अभी धारावाहिक प्रकाशित हो रहा है और यह कब तक धारावाहिक चलेगा, यह कह नहीं सकता अतः तब तक इसके अनुवाद के लिए किसी पत्रिका को प्रतीक्षा कराना उचित नहीं होगा। उनके इस सरल और व्यावहारिक कथन से मैं उनके प्रति विनम्र आदर से अभिभूत हो उठा।

बांग्ला के मूर्धन्य कवि-कथाकार **श्री प्रमेन्द्र मित्र** की एक कविता के अनुवाद के लिए केंद्रीय हिंदी निदेशालय का पत्र मिला था अतः इसके निमित्त उनसे मिलने का सौभाग्य मानकर मैं उनके निवास स्थान पर गया। श्री प्रमेन्द्र मित्र तब भवानीपुर के निकट ही रहते थे। आप चित्रनाट्यकार (पटकथा लेखक), निर्देशक और निर्माता भी रह चुके थे तथा आकाशवाणी के सलाहकार भी थे। प्रमेन्द्रजी को उनकी पुस्तक 'सागर थेके फेरा' (सागर से लौटकर) के लिए वर्ष 1957-58 ई. में साहित्य अकादमी पुरस्कार तथा रवीन्द्र पुरस्कार मिल चुके थे। इनकी एक कहानी 'महानगर' अत्यंत चर्चित रही थी (सत्यजीत राय की एक फिल्म भी 'महानगर' नाम से थी परंतु उसके कहानीकार श्री नरेन्द्रनाथ मित्र थे)। प्रमेन्द्रजी की कहानी 'महानगर' एक ऐसे किशोर की है जो अपने गांव से पहली बार महानगर में आता है, इस आशा में कि वह इस महानगर में निषिद्ध पल्ली में रहने वाली अपनी प्रिय दीदी को वापस गांव ले जायेगा। उसको तब बड़ा झटका लगता है कि उसकी दीदी यहां से लौटना

क्यों नहीं चाहती। अंततः वह किशोर भी महानगर की चकाचौंध में खोकर रह जाता है। प्रमेन्द्रजी से मिला तो उनकी सहृदयता और मिलनसारता से मैं अत्यंत प्रभावित हुआ। वे हिंदी समझ लेते थे क्योंकि उनका शैशव उत्तर प्रदेश में बीता था। कविता का हिंदी अनुवाद सुनकर वे अत्यंत प्रसन्न हुए और उसके प्रकाशन की अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी।

साहित्य अकादमी दिल्ली से फेलोशिप प्राप्त, बांग्ला की प्रतिष्ठित पत्रिका 'देश' के सहायक सम्पादक तथा साहित्य अकादमी पुरस्कार, बंकिमचन्द्र पुरस्कार व आनंद पुरस्कार से नवाजे जा चुके कवि-कथाकार, उपन्यासकार **श्री सुनील (कुमार) गंगोपाध्याय** के उपन्यासों का अनुवाद करने का जो मुझे सुअवसर मिला, वह अभुतपूर्व था। उनके 'जीवन जे रकम', 'कालो रास्ता सादा बाड़ी', 'आइनाय कार मुख' आदि का अनुवाद करते हुए मुझे ऐसा लगा था कि वे बांग्ला के ही नहीं अपितु सर्व भारतीय भाषाओं के जानकार एवं हितैषी हैं। यही कारण था कि जब भी मौका मिलता वे मुझे हिंदी तथा अन्य भाषाओं की कहानियों का बांग्ला में अनुवाद और सम्पादन का दायित्व सौंप देते थे। ये बांग्ला में अनूदित कहानियां 'हिंदी निर्वाचित गल्प', 'भारतीय भाषार किशोर गल्प' तथा 'भारतीय भाषार गल्प' (इसमें पच्चीस भारतीय भाषाओं की कहानियां हैं) शीर्षक से पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। उन्होंने इनका सम्पादकीय लिखा और आवश्यक होने पर टिप्पणियां भी की। उनकी इच्छा हुई कि उनकी बांग्ला कहानियों का हिंदी अनुवाद हो और उनका संग्रह प्रकाशित हो। यह काम 'ताजमहल में एक कप चाय' संग्रह के रूप में संपन्न हुआ। 'कृतिवास' मासिक साहित्यिक पत्रिका निकालकर वे उसमें नये-पुराने लेखकों को प्रकाशित कर उन्हें निरंतर प्रोत्साहित करते रहते थे। यह पत्रिका बांग्ला साहित्य-परिसर में मील का पत्थर साबित हुई। उन्होंने 'देश' पत्रिका में सहायक सम्पादक रहते हुए हर महीने किसी प्रादेशिक भारतीय भाषा की एक कहानी का अनुवाद कर उसे प्रकाशन का दायित्व पत्रिका के प्रधान सम्पादक श्री सागरमय घोष के साथ निभाया था। ये 'देश' पत्रिका के प्रत्येक महीने के प्रथम सप्ताह के अंक में कई वर्षों तक प्रकाशित होती रही। इस प्रयास को देश-विदेश में बांग्ला पाठकों की खूब सराहना मिली। इस क्रम में चौतीस कहानियों का प्रकाशन हुआ था। सुनील गंगोपाध्याय के कई उपन्यासों पर फिल्में भी बनी। विश्व-वरेण्य सत्यजीत राय ने भी 'प्रतिद्वंद्वी' शीर्षक से उनके उपन्यास 'अरण्येर दिन रात्री' उपन्यास पर बनायी थी। उनके उपन्यास 'सेई समय' पर हिंदी में 'प्रतिशोध' तथा 'युगान्तर' नामों से टेली फिल्में बनी। यह उपन्यास बांग्लादेश से विस्थापित लोगों की परिस्थितियों पर आधारित है। सुनील बहुप्रतिभा संपन्न लेखक, सम्पादक, पत्रकार थे। वे सनातन पाठक, नीललोहित आदि छद्म नामों से भी लिखते रहे। सचमुच सुनील गंगोपाद्याय का सानिध्य मेरे लिए मेरी एक महत्वपूर्ण थाती है।

प्रगतिशील कवि **नरेन्द्रनाथ चक्रवर्ती** (1924) बांग्ला भाषा के आस्थाशील कवियों में अन्यतम हैं। इनकी कविताओं में समाज के दैन्य, विशृंखलित परिवेश तथा अवहेलित, रोगग्रस्त व्यक्तियों के प्रति भावात्मक, संवेदनात्मक समर्पण मिलता है। आस्थाशील प्रकाश और भविष्य की उज्ज्वल दिशाओं की ओर संकेत करती, अंधेरी और विकृत अंधत्व पर कुठाराघात करती इनकी कविताएं वैचारिक तथा सैद्धांतिक रूप से भीतर ही भीतर हलचल पैदा करती हैं। ये मात्र कवि ही नहीं, 'आनंद मेला' (किशोर पत्रिका) के सुप्रतिष्ठत सम्पादक और विचारशील गद्य लेखक भी थे। सत्यजित राय (बांग्ला फिल्मों के निर्माता और निर्देशक) के अधिक करीब होने के नाते उनके निर्देशन में बनी फिल्मों का 'आंखों देखा हाल' शीर्षक से रपट लिखते थे। इन्होंने विश्व कवि सम्मेलन में बांग्ला कवियों का प्रतिनिधित्व भी

किया था। साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत इनकी बांग्ला कविता पुस्तक 'अलंग राजा' (नंगा राजा) के हिंदी अनुवाद की बात सामने आयी, तो मेरे लिए यह काम एक चुनौती से कम नहीं था। 'नंगा राजा' से कुछेक पंक्तियां हैं - *चाटुकार ही नहीं थे/ एक बालक भी था/ सच्चा, सरल, साहसी एक बालक/ जाओ, उसे जैसे भी हो/ ढूंढ़कर ले आओ/ वह एक-बार नग्न राजा के सामने/ आकर खड़ा हो निडर/ आकर एक बार फिर तालियों की गड़गड़ाहट के बीच/ चिल्लाकर पूछा - राजा, कहां गये तेरे कपड़े?*

सिद्धेश
1/17, आदर्शपल्ली, फ्लेट-1बी रीजेंट एस्टेट
कोलकाता - 700 092
मो. - 9830859660

गुजरात का हिन्दी सन्त-साहित्य

डॉ. रामकुमार गुप्त का सद्य प्रकाशित शोध-ग्रंथ 'गुजरात का हिन्दी सन्त साहित्य' गुजरात के सन्त कवियों की देन का नवीनतम एवं परिनिष्ठित संस्करण है। 1. गुजरात की ज्ञानमार्गी धारा की पृष्ठभूमि, 2. गुजरात के प्रमुख संत-सम्प्रदाय, 3. गुजरात के प्रमुख सन्त कवि : जीवन और कृतित्व, 4. गुजरात के सन्त कवियों की दार्शनिक विचार धारा, 5. गुजरात के सन्तों की हिन्दी वाणी : साहित्यिक मूल्यांकन, 6. गुजरात के सन्तों द्वारा प्रयुक्त विशिष्ट काव्य-प्रकार, 7. उपसंहार।

प्रस्तुत शोध-ग्रंथ की सामग्री को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से लेखक ने कुल सात परिच्छेदों में विभक्त किया है - इनके अतिरिक्त प्रारंभ में विषय-प्रवेश शीर्षक में एक महत्त्वपूर्ण आलेख भी संलग्न कर दिया है जिसके अन्तर्गत शोध-सामग्री के संकलन-सूत्रों का सिलसिलेवार परिचय दिया गया है तथा विषय का स्पष्टीकरण एवं तद्विषयक सीमाओं का निर्धारण किया गया है। विद्वान लेखक ने गुजरात के सन्तों की हिन्दी वाणी को हृदयंगम करने के उद्देश्य से हिन्दी व गुजराती लिपियों तथा हिन्दी-गुजराती शब्दों के उच्चारणगत साम्य-वैषम्य को भी बखूबी रेखांकित किया है।

उपर्युक्त सात परिच्छेदों के अनन्तर ग्रंथ के अन्त में लेखक ने जिज्ञासु पाठकों एवं अनुसंधित्सुओं की सुविधा के लिए संलग्न चार संक्षिप्त परिशिष्टों में उपर्युक्त समस्त परिच्छेदों किंवा पूरे ग्रंथ का सारभूत विहंगावलोकन भी प्रस्तुत कर दिया है। परिशिष्ट इस प्रकार हैं -- 1. गुजराती संतों द्वारा प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली, 2. गुजरात के हिन्दी-सेवी संतों की नामावली, 3. गुजरात के सन्त कवियों द्वारा लिखित हिन्दी ग्रन्थ, 4. संदर्भ ग्रंथ-सूची।

प्रथम परिच्छेद में गुजरात की ज्ञानमार्गी शाखा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की गई है। उत्तर भारत की समस्त धार्मिक व राजनीतिक परिस्थितियों के समानान्तर लेखक ने गुजरात की ज्ञानमार्गी धारा की अपनी कुछ विशिष्ट प्रेरक परिस्थितियों को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। गुजरात के निर्गुणिया सन्तों की साधना को स्पष्ट करने के लिए परिच्छेद के अन्त में प्रस्तुत लेखकीय निष्कर्ष ध्यातव्य है-- "वस्तुतः सभी सन्त आसक्ति से अनासक्ति और ऐहिकता से पारलौकिकता की ओर अग्रसर हुए हैं। संसार के आघात-प्रतिघातों और उनके अपने अनुभवों ने संवेदनशील हृदय और जागरूक आत्मा को ऊर्ध्वगामी बनने की प्रेरणा दी है। गुजरात का समस्त संत-साहित्य व्यष्टि और समष्टि मूलक साधना का सेतु है।"

द्वितीय परिच्छेद में लेखक ने गुजरात के प्रमुख संत-संप्रदायों का अध्ययन तो अत्यंत विशद रूप में प्रस्तुत किया है, किन्तु जिन संप्रदायों का संत-मत से कोई प्रत्यक्ष संबन्ध नहीं है अथवा जिनकी निश्चित परंपरा या जिनके कवियों की हिन्दी वाणी अप्राप्य रही है उन्हें लेखक ने अपने अध्ययन में सम्मिलित नहीं किया है, वस्तुतः यह स्वाभाविक भी है।

तृतीय परिच्छेद के अन्तर्गत गुजरात के

तकरीबन ८५ संतों की अधिकृत जीवनी, व्यक्तित्व और कृतित्व पर अपेक्षित उद्धरणों के साथ प्रकाश डाला गया है। क्षेनीय शोध की दृष्टि से प्रस्तुत अधिनिबंध में यद्यपि छोटे-बड़े दोसौ से अधिक संतों का उल्लेख किया गया है, किन्तु जिन्होंने हिन्दी में कोई रचना नहीं की उन्हें छोड़ देना लेखक की विवशता थी, फिर भले ही गुजराती भाषा की दृष्टि से वे उच्च कोटि के सन्त कवि हों। ८५ सन्तों के व्यक्तित्व और कृतित्व के मूल्यांकन में डॉ. गुप्त की सूक्ष्म शोध-दृष्टि एवं समीक्षा-दृष्टि पदे-पदे लक्षित होती है।

चतुर्थ परिच्छेद में गुजरात के हिन्दी सन्त कवियों की दार्शनिक विचारधारा का सम्यक् अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है। अधिकांश संतों की साधना जहां आचार्य गौड़पाद के अजातवाद तथा शंकराचार्य के मायावाद से प्रभावित है,वहीं प्राणनाथ जैसे संतों पर रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद तथा अखा जैसे ज्ञानी संतों पर सूफियों के प्रेममार्ग का प्रभाव भी सोद्धरण स्पष्ट किया गया है। सन्तों की सैद्धान्तिक विचारधारा के साथ-साथ आनुषंगिक रूप से उनकी भक्ति-साधना का भी अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

पंचम परिच्छेद में लेखक ने काव्य के विविध प्रतिमानों के आधार पर गुजरात की हिन्दी संत-वाणी का मूल्यांकन किया है, किन्तु संत कबीर की भांति गुजरात के जिन सन्त कवियों का लक्ष्य न तो कविता करना था और न ही जो काव्य के विभिन्न उपकरणों के मर्मज्ञ थे, उनके कृतित्व के महज उन अंशों तक ही लेखक की समीक्षात्मक लेखनी सीमित रही है, जिनमें कुछ मर्मस्पर्शी रागात्मक अंश विद्यमान हैं। तथापि लेखक ने इस परिच्छेद में पर्याप्त उद्धरणों के प्रकाश में गुजरात के संतों द्वारा प्रयुक्त भाषा, प्रतीक-विधान, ऋतु-वर्णन, अलंकार-योजना, मुहावरे-कहावतें, छंद योजना, रस-योजना, संगीत विषयक, राग-रागिनियाँ आदि का भी बहुसंख्यक उद्धरणों के आलोक में सूक्ष्म विवेचन किया है।

षष्ठ परिच्छेद में लेखक ने गुजरात के संतों द्वारा अपनी कृतियों में प्रयुक्त मुक्तक एवं प्रबन्ध के विभिन्न काव्यरूपों का भी अत्यन्त मनोयोगपूर्वक सोद्धरण विश्लेषण प्रस्तुत किया है। मुक्तक काव्य के अन्तर्गत साखी, पद और रमैनी जैसे संत कबीर आदि कवियों द्वारा प्रयुक्त काव्यरूपों के अतिरिक्त बारहमासी, कक्का, धोल, गरबी-गरबा, आरती, जकड़ी, लावणी, होरी और ग़ज़ल आदि मुक्तक काव्यरूपों तथा चरित, मसनवी, गीता, गोष्ठी और कड़वा आदि प्रबन्ध काव्यरूपों पर भी गंभीरतापूर्वक विचार-विमर्श किया गया है।

सक्षम परिच्छेद में निष्कर्षतः गुजरात के संतों की उन समस्त भाषिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक उपलब्धियों पर प्रकाश डाला गया है जिनकी बदौलत हमारा समूचा हिन्दी साहित्य भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से समृद्ध हुआ है।

उक्त सात विस्तृत परिच्छेदों में गुजरात के हिन्दी सन्त-साहित्य का विशद एवं सर्वांगसम्पूर्ण अध्ययन प्रस्तुत करने के बाद डॉ. गुप्त ने परिशिष्ट के अन्तर्गत हिन्दी सेवी गुजराती संत कवियों की नामावली उनके द्वारा रचित हिन्दी ग्रंथों की सूची, पारिभाषिक शब्दावली तथा संदर्भग्रंथ-सूची जोड़कर अध्येताओं एवं अनुसंधित्सुओं का मार्ग और भी सुगम कर दिया है।

गुजरात के मध्ययुगीन सन्त-साहित्य के मूर्द्धन्य विद्वान तथा लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार कीर्तिशेष डॉ. अम्बाशंकर नागर के निर्देशन में गुजरात के संत-साहित्य पर यद्यपि अनेक शोधकार्य संपन्न हो चुके हैं, किन्तु उन सभी में डॉ. गुप्त रचित 'गुजरात का हिन्दी सन्त साहित्य' निर्विवाद : एक मानक व सीमा चिह्न है। इस ग्रंथ ने गुजराती भाषा-साहित्य के प्राचीन ग्रंथागारों में संचित-सुरक्षित गुजरात के मध्ययुगीन हिन्दी संतों की अमूल्य साहित्य-संपदा एवं दुर्लभ ज्ञानराशि का सम्यक् अनुशीलन करने के नये गवाक्ष

भी उद्‌घाटित किये हैं। इस ग्रंथ के सर्वांग सुंदर प्रकाशन हेतु 'शांति प्रकाशन' बधाई का हकदार है।

प्रो. भगवानदास जैन
बी-105, मंगलतीर्थ पार्क, कैनाल के पास,
जशोदानगर रोड, मणिनगर (पूर्व)
अहमदाबाद- 382445 (गुजरात)
मो.- 9426016862

भोजपुरी नाटक के पुरोधा : भिखारी ठाकुर

एक अत्यन्त निर्धन नाई परिवार में जन्म लेकर भिखारी ठाकुर ने अनेक विषम परिस्थितियों से लोहा लिया। एक आदर्श नाटककार और गीतकार हैं जिन्होंने अपने जीवन मूल्यों को अपने कर्म का आधार बनाया। कविवर जगशंकर प्रसाद की निम्नांकित पंक्तियाँ भिखारी ठाकुर के व्यक्तित्व के अनुरूप सार्थक और सटीक बैठती है - **कर्म-यज्ञ से जीवन के सपनों का स्वर्ग मिलेगा, इस विपिन में मानस की आशा का कुसुम खिलेगा।** श्री भिखारी ठाकुर ने निर्धनता से सामना किया था। अपने कर्म और उमंगोत्साह के आधार पर लोकप्रियता के उच्च शिखर पर पहुँचे। सादगी, सज्जनता, शालीनता, ईमानदारी, कष्ट झेलने की अपार क्षमता तथा किसी भी परिस्थिति में संयम के साथ रहने की मानसिकता उन्हें एक आदर्श नाटककार और गीतकार बना सकने में सक्षम रही है।

जनकवि तुलसीदास और कबीर के बाद सम्पूर्ण उत्तर भारत के लोक-मानस में किसी कवि-कलाकर को सबसे ज्यादा जगह मिली है, तो वह व्यक्ति है लोक-नर्तक भिखारी ठाकुर। उनकी सबसे बड़ी खूबी यह थी कि उन्होंने अपने काव्य, नाटक, अभिनय और गायन से भोजपुरी भाषा की शक्ति को उजागर किया। उनका तरीका लोक-शैली का था, पर उनका बोध अपना था। यही उनकी अद्‌भुत प्रयोगात्मकता थी। यही कारण है कि उनके निधन के लगभग 46 वर्ष बाद भी उनके गीत और नाटक, पूरी दुनिया में करीबन 25 करोड़ की संख्या में फैले हुए भोजपुरी भाषा-भाषियों के मन-प्राणों में रचे-बसे हैं। वे उत्तर भारत के गायन में तो हैं ही, मॉरिशस, फिजी और सूरिनाम के लोक-कंठों में भी मौजूद हैं।

भिखारी ठाकुर के गीत, दोहे एवं नाटक प्रेम के साथ-साथ समाज और मन की पीड़ा व विरह के मार्मिक क्षणों का चित्रण करते हैं। भिखारी ठाकुर सामाजिक संवेदना और गहरी आध्यात्मिक वेदना के भी कवि हैं। इनके गीत, दोहों और नाटकों में जहाँ एक ओर भक्ति-आन्दोलन के कवियों (रैदास, कबीर इत्यादि) जैसी खासियतें हैं, तो दूसरी ओर सामाजिक-मर्यादा और समाज-सुधार के उद्देश्य भी हैं। वे कहते हैं :- **राज समाज के बढ़स बड़ाई, शान्ति-झंझट टुटस चकित लड़ाई। शान्ति-सत्य-प्रेम चकित आवस, सुख के बरसा राम बरिखाबस।**

भिखारी ठाकुर का जन्म बिहार राज्य के सारण जिलान्तर्गत ग्राम कुतुबपुर में एक अत्यन्त ही निर्धन परिवार में 18 दिसम्बर, सन् 1887 को हुआ था। कुतुबपुर पहले भोजपुर जिले में था। परन्तु बाद में गंगा की धारा में परिवर्तन के कारण छपरा में चला गया। भिखारी ठाकुर होश संभालते ही चरवाही करने लगे। फिर अपने पुश्तैनी पेशे नाईगिरी के क्षोर-कर्म से जुड़ गये। पढ़ने की लालसा हुई तो गाँव के ही मित्र भगवान साह से इतना अक्षर-ज्ञान प्राप्त कर लिया कि किसी तरह कुछ पढ़ने लगे। उन्होंने खुद स्वीकार किया है :- **नईखी पाट पर पढ़ल भाई, गलती बहुत लउकते जाई।**

सन् 1914 में बिहार में भीषण अकाल पड़ा, उसी वर्ष भयानक भूकंप भी आया। तब भिखारी ठाकुर मात्र 27 वर्ष के थे। किसानी पर आफत, लगान की रकम बढ़ गई। न खलिहान में अनाज, न शादी-ब्याह, न लगन। जिन्दगी दुभर हो गई। गाँव और आसपास

के ढेर सारे लोग जीविका की तलाश में परदेश भाग रहे थे। भिखारी ठाकुर भी अपने फूफा के पास खड़गपुर (बंगाल) तक गये। इस दौरान उन्होंने खड़गपुर, मेदिनीपुर और जगन्नाथपुर की यात्रा की। उन दिनों वहाँ शाम को कहीं-न-कहीं रामलीला खेली जाती थी। भिखारी रामलीला देखने लगे। मन रम गया रामलीला में। उनके भीतर का सोया कलाकार जग गया। इनको रास्ता मिल गया। मंजिल भी दिख गई। अब परदेश काटने लगा। गाँव लौटकर नया जीवन शुरू करने की लालसा प्रबल हो गई।

गाँव लौटकर भिखारी ठाकुर भी रामायण अर्थात तुलसीदासकृत रामचरितमानस की चौपाइयाँ बांचने लगे। जानकारों से अर्थ पूछ-पूछकर अपना शब्द ज्ञान बढ़ाया। उन्होंने नाट्य मंडली बनाने का निर्णय किया। लेकिन यह तय किया कि उनके नाटकों की विषय वस्तु न तो धार्मिक होगी न राजा-रानियों की और न लोक कथाओं में वर्णित नायक-नायिकाओं की। उन्होंने तत्कालीन भोजपुरी समाज के सम्भ्रान्त परिवारों की सामंती मानसिकता, ऊँच-नीच जैसी सामाजिक एवं धार्मिक बुराईयों को अपने नाटकों का विषय बनाया। फिर नाटकों के रूप को निखारते रहे। इस रचना प्रक्रिया में भिखारी ठाकुर के मुँह से सूक्तियाँ फूटने लगीं। धीरे-धीरे लोक धुनों में वे रचना करने लगे। उनके नाटकों और गीतों में भोजपुरी समाज बोलने लगा। जनता ने उनमें अपना चेहरा देखा और उनकी नाच-मण्डली का काम चल निकला।

भिखारी ठाकुर के समय देश में अंग्रेजों का शासन था। गाँवों में भुखमरी थी। काम नहीं मिलता था। जीविका के लिए गाँव छोड़कर लोग कलकत्ता चले जाते थे। घर पर उनकी ब्याहता अकेली रहती थी। शहर जाकर वे लोग वेश्याओं के जाल में फँस जाते थे। पत्नी बेचारी संदेश भेजती। साल-दर-साल गुजर जाते और वियोग चलता रहता। महिलाओं की इस घुटन, निराशा और आत्मवेदना से संवेदित होकर भिखारी ठाकुर ने उसे अभिव्यक्ति दी और 'विदेसिया' नाम से नाटकों और गीतों की रचना की। विदेसिया ने साधारण लोगों के दिल को छू लिया। हर अवसर पर शादी-ब्याह में, जगह-जगह भिखारी ठाकुर बुलाए जाने लगे। विदेसिया की धूम मच गई। इसी तरह अनमेल विवाहों को लेकर नाटक रचे। 'बेटी-बेचवा' नाटक में दादा की उम्र के बराबर पति से ब्याहे जाने पर बेटी रोती हुई बाप को इन शब्दों में कोसती है :-

लूजुर-लूजुर पिया, देख मुँह लेके दीया,
कहीं कइसे, कहे नइखे आवत हो बाबुजी।
मुँहबा में दाँत नाहीं? भात चूसे गाल माही,
बावला पर भीतरी सलंदर हो बाबुजी।"

भिखारी ठाकुर लगभग पाँच दशकों तक अपने नाट्य-लेखन और मंचन से छाये रहे। दिलचस्प बात यह है कि इनके नाटकों की दर्शक स्त्रियाँ नहीं होती थी, जिन पर सामाजिक एवं पारिवारिक जुल्मों की कथा वे कहते थे, बल्कि वह पुरुष समाज होता था, जो तमाम जुल्मों के लिए जिम्मेदार होता था। वे सांस्कृतिक प्रदूषण और अंधानुकरणा के लिए चर्चित मध्यवर्ग की संवेदनाओं को भी झिंझोड़ते रहते थे। भिखारी अपनी एक नृत्य-नाटिका में कहते हैं- **कहत भिखारी भिखार हो गइली, दौलत बहुत कमा के।** धन और सुख-सुविधा के पीछे पागल आधुनिक समाज पर भिखारी ठाकुर की यह एक सख्त और तिलमिला देने वाली टिप्पणी है। भिखारी ठाकुर ऐसे ही सीधे-सादे, मगर दूरगामी अर्थ-संकेतों के सर्जक थे। वे सभी को बराबर देखना चाहते थे। समाज में साम्य भाव को अधिक महत्व देते थे। इस प्रसंग में 'दिनकर' की ये पंक्तियाँ पूर्णतः चरितार्थ होती हैं :- **"शान्ति नहीं तब तक जब तक सुख भोगे न नर का सम हो, नहीं किसी को बहुत अधिक हो, नहीं किसी को कम हो।"**

भिखारी ठाकुर ने अपनी रचनाओं और प्रदर्शन से भटकाव को सही दिशा देने की कोशिश की। भिखारी ठाकुर का गीत-संगीत, 'रवीन्द्र संगीत' और

'विद्यापति संगीत' की परम्परा में आज भोजपुरी में है, जहाँ भोजपुरी का नाम आता है, वहाँ भिखारी ठाकुर खड़े मिलते हैं। भिखारी ठाकुर ने अपने भोजपुरी नाटकों के द्वारा जन-जन के मन में एक नई ऊर्जा का संचार किया। एक साधारण-से परिवार में जन्म लेवर अपनी नाट्य शैली, गीतों द्वारा अपनी लोकप्रियता यत्र-तत्र-सर्वत्र फैलायी जो अपने आप में अनुठी है। इस संदर्भ में राष्ट्रकवि 'दिनकर' की यह पंक्तियाँ स्मरणीय है :- **नहीं फूलते कुसुम सिर्फ राजाओं के उपवन में, अमित बार खिलते वे पुर से दूर कुंज-कानन में। समझे कौन ? प्रकृति का बड़ा अनोखा हाल, गुदड़ी में रखती है चुन-चुनकर, बड़े कीमती लाल।**

प्रेमचन्दजी अपनी कहानी बलिदान में लिखते हैं - "मनुष्य की आर्थिक अवस्था का सबसे ज्यादा असर उसके नाम पर पड़ता है।" यह बात हमें बेहतर ढंग से समझ आती है जब हम बिदेसिया सैली के नाटकों को देखते हैं। बिदेसी, छिचोर, गड़बड़ी, उपछार, उदवास, चपाटराम जैसे नाम महज नाम नहीं हैं। ये अपने साथ अपने पात्रों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति भी बताते हैं। प्रेमचन्द का कथन बिदेसिया के सृजनकर्ता भिखारी ठाकुर पर प्रतिबिम्बित होता है। भिखारी ठाकुर शब्द एक साथ उनके आर्थिक, सामाजिक पिछड़ेपन को बताता है।

भिखारी ठाकुर अपनी उम्र के पहले बतीस वर्ष नाई का काम करते रहे और बाकी की उम्र मंच पर नचनिया बनकर। वे आम आदमी के कवि भी थे और उनकी पीड़ा के गायक भी। भिखारी की आवाज बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक से गुंजनी शुरू हुई जब 'विदेसिया', 'गड़बड़-छिचोर', 'बेटी बेचवा', 'भाई-विरोध' सरीखे नाटकों का सृजन कर रहे थे। ब्रिटिश काल होने के बावजूद इन नाटकों में ब्रिटिश विरोध के बजाय सामाजिक और पारिवारिक समस्या थी। विदेशी वस्तु के बहिष्कार की जगह बेमेल शादी की पीड़ा थी। असहयोग की जगह पलायन प्रमुख मुद्दा था। एक ओर जहाँ प्रसाद के स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त जैसे प्रसिद्ध नाटकों में राष्ट्रवाद का पुट लोगों को आन्दोलित कर रहा था, जबकि भिखारी के नाटक सामाजिक दृष्टि से स्थापित होते हैं। गुलाम भारत में लोगों का बड़ा हुजूम राष्ट्रवाद से ज्यादा दूसरे मुद्दों को तरजीह दे रहा था।

भारत के ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में लम्बे अर्से से रामलीला का मंचन किया जाता रहा। ब्रिटिश इंडिया में भी सुदूर गाँवों में रामलीला सामाजिक मनोरंजन की अनुपम विधा थी। भिखारी भी कुछ समय तक रामलीला से जुड़े रहे। रामचरितमानस जैसा कुछ लिखने की कोशिश भी की, लेकिन बंगाल के सामाजिक सुधारों से प्रभावित होकर कुछ नया करने की राह पकड़ ली। फिर हुआ बिदेसिया का जन्म। भिखारी ठाकुर अपने मन-मोहक गीतों और साधारण किरदारों से जमींदार-संरक्षित रामलीला के समानान्तर विदेसिया को खड़ा कर देते हैं। विदेसिया को जहाँ अवाम का भरपूर समर्थन मिल रहा था, वहीं कुछ लोग उसका विरोध भी कर रहे थे। उनके नाटक देखने वालों की संख्या बीस हजार तक होती थी। विदेसिया के दर्शक भी एक खास सामाजिक और आर्थिक वर्ग के थे- 'गरीब' कमजोर वर्ग के।

वे हमें जनता की भाषा में संवाद करना सिखाते हैं; हमेशा रहेंगे प्रेरणास्रोत। भिखारी ठाकुर के बिदेसिया नाटक में जब बटोही से बिदेसी अपनी पत्नी (प्यारी) का विरह सुनता है, तो भ्रम से जागता है। फिर वह कलकत्ता से वापस आता है और फिर होता है विदेसी के प्रेम में विरहित रही प्यारी का मिलन। जीवन के मंच पर भिखारी ठाकुर का यह विदेसिया नाटक हर दिन खेला जा रहा है। सुखद भविष्य रूपी बिदेसी के प्रेम में विरहित बनी जनता का मिलन उसके प्रेमी से नहीं हो पा रहा है, हर चुनाव में जनता बटोही तो बदल देती है लेकिन उसका प्रेमी तो लौट ही नहीं रहा, और जनता विरह में गाती फिर रही है - **धधके करेजवा में आगि रे विदेसिया**।

भिखारी ठाकुर अब हमारे बीच नही हैं, लेकिन उनकी नाट्य-शैली की निपुणता और नाटक का सामाजिक सरोकार भिखारी को जीवित बनाए रखेगा। भिखारी ठाकुर नई पीढ़ी के लिए हमेशा प्रेरणा-स्रोत रहेंगे, क्योंकि वे हमें जनता की भाषा में संवाद करना सिखाते हैं, विद्वत्ता भरी बातों को भी सरलता से कहना सिखाते हैं और आज जब जनता को भरमा कर देश का माहौल बदलने की कोशिश की जा रही है, जनता को राष्ट्रवाद के नाम पर चुप कराया जा रहा है तो जरूरी हो जाता है जनता से भिखारी ठाकुर सरीखे संवाद स्थापित करना।

(साभार "दैनिक भास्कर" 19.12.2016 से)।

सच कहा जाय तो प्रसिद्ध भोजपुरी नाटककार, गीतकार भिखारी ठाकुर भोजपुरी नाटकों के पुरोधा थे। उनकी रचनाएं आज भी प्रासंगिक हैं और भविष्य में भी रहेंगी। भिखारी ठाकुर ने भोजपुरी संस्कृति को सामाजिक सरोकारों के साथ ऐसा पिरोया कि अभिव्यक्ति की यह धारा भिखारी शैली कहलाती है। मैं तो यही कहूंगा- मणि प्रदीप घोर तिमिर के नाशक, भोजपुरी नाट्य साहित्य के प्रबल समर्थक-उद्‌गाता, भोजपुरी के अमर नाटककार, विशाल बुद्धि वैभवशाली, हिंदी भाषा के अनन्य, भोजपुरी संसार की चिर-आत्मा में चिरकाल तक विचरण करने वाले जन-जन की अभिव्यक्ति, कण-कण के स्वर, झोपड़ी के इस लाल को मेरा सलाम।

डॉ. हरिकृष्णप्रसाद गुप्त अग्रहरि
'अग्रहरि भवन' पो.-पूर्वी चम्पारण-845305
मो. : 7091677606

आचार्य शुक्ल और उनका गद्य लेखन

हिन्दी के समृद्ध लेखकीय परिदृश्य में आचार्यत्व के सारस्वत प्रतिमान आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अपनी सशक्त-सुन्दर शैली एवं समीक्षात्मक निबंधों के प्रौढ़ लेखन के लिए साहित्य-संसार में सतत् याद किये जाते रहेंगे। कविता, कहानी, निबंध, इतिहास, आलोचना जैसी विधाओं में उनकी मानवीय मूल्यान्वेषी प्रतिभा की शाश्वत-सार्थक अभिव्यक्ति अनुबद्ध है। बतौर संपादक उनके प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं के साथ-साथ कई ग्रन्थों का भी सुसंपादन किया। उनकी प्रकाशित-अप्रकाशित कृतियों की संख्या लगभग साठ से भी अधिक है।

आचार्य शुक्ल ने 04 अक्टूबर, 1884 ई. को उत्तर प्रदेश के बस्ती मंडलान्तर्गत 'अगोना' नामक गाँव में उस समय अपने जीवन और जगत के प्रथम प्रकाश का साक्षात्कार किया, जिस काल में सम्पूर्ण राष्ट्र स्वतंत्रता-संग्राम के संक्रमण-काल से गुजर रहा था। जब शुक्ल जी की अवस्था 4 वर्ष की थी, उनके पिता पं. चन्द्रबली शुक्ल हमीरपुर जिले की राढ़ तहसील में सुपरवाइजर कानूनगो होकर आ गये। छः वर्ष की अवस्था में शुक्ल जी ने यहीं हिन्दी-उर्दू स्कूल में अध्ययन आरम्भ किया। शुक्ल जी की अवस्था जब नौ वर्षों की थी, तभी दुर्भाग्यवश उनके माथे से माताजी की छत्र-छाया छिन गयी। इसके बाद उनके पिता पं. चन्द्रबली शुक्ल ने दूसरी शादी कर ली। स्वमातृ-सुख से वंचित होने के साथ-साथ विमाता से मिलने वाले दुख-दर्द ने उनके व्यक्तित्व को अल्पायु में ही प्रभूत परिपक्व बना दिया। शुक्ल जी की आगे की शिक्षा मिर्जापुर में हुई। बाल्यकाल से शुक्लजी अध्ययन के प्रति लग्नशील थे। चौदह वर्ष वर्षों की उम्र में उन्होंने 1889 ई. में मिडिल की परीक्षा में उत्तीर्णता प्राप्त की। इसके पश्चात उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए मिर्जापुर के लन्दन मिशन स्कूल में उनका नामांकन कराया गया। 1901 ई. में उक्त विद्यालय से इन्टर (एंट्रेंस) की परीक्षा पास करने के पश्चात् पारिवारिक झंझटों के कारण आगे की पढ़ाई नहीं हो सकी।

उनके पिता की प्रबल इच्छा थी कि शुक्ल जी कचहरी में जाकर दफ्तर का काम सीखें, किन्तु शुक्ल जी, और आगे की शिक्षा प्राप्त करना चाहते थे। अध्ययन की ओर उन्मुख देखकर उनके पिता जी

ने उन्हें वकालत पढ़ने के लिए इलाहाबाद भेजा पर उनकी रुचि कानून की किताबों में नहीं लगी, क्योंकि उनके मन-मस्तिष्क में तो साहित्य का सौन्दर्य समाहित था। अतः परिणाम यह हुआ कि शुक्ल जी परीक्षा में अनुत्तीर्ण रहे। फिर वे मिर्जापुर-मिशन स्कूल में ही ड्राइंग-टीचर के रूप में 1904 से 1908 तक रहे, इसी दौरान उनके बनाये एक नक्शे को देखकर मिर्जापुर के कलेक्टर मि. विंवढय ने उनको नायब तहसीलदार पद का प्रस्ताव दिया, परंतु उन्होंने मना कर दिया। उसी समय से उनके लेख देश की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगे। 'सरस्वती' पत्रिका में उनके लेख प्रकाशित हुए। कालान्तर में उनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर 'काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का संपादक नियुक्त कर दिया गया। 1908 ई. में काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने श्री शुक्ल को शब्द-सागर के सहायक संपादक का कार्यभार सौंपा। डा. श्याम सुन्दर दास के शब्दों में - "शब्द सागर की उपयोगिता और सर्वांगपूर्णता का अधिकांश श्रेय पं. रामचन्द्र शुक्ल को प्राप्त है।" हिंदी गद्य के विकास में शुक्लजी का आधारभूत योगदान है। उनके द्वारा लिखित निबंध, समालोचनाएं, भूमिकायें, साहित्येतिहास, सम्पादित ग्रंथ अपने-आप में मानक हैं। हिंदी साहित्येतिहास एवं समीक्षा के तो वे प्रथम प्रस्थान हैं। 1903 से 1908 ई. तक वे 'आनन्द कादम्बिनी' के सहायक संपादक के पद पर भी रहे।

उनके निबंधों का संग्रह 'चिन्तामणि' दो भागों में प्रकाशित है जिनमें साहित्यिक विषयों के अलावा श्रद्धा, उत्साह, घृणा आदि मनोवैज्ञानिक विषयों पर निबंध है। सुचिंतित विषय का प्रतिपादन अत्यंत सुन्दर ढंग से हुआ है।

हिन्दी निबंधों के क्षेत्र में शुक्ल जी का योगदान अमर है। शुक्ल जी ने इस क्षेत्र में क्रान्ति उपस्थित कर दी। उन्होंने नूतन विषयों पर निबंध लिखे और नयी प्रणाली पर विषय को आगे बढ़ाने का उदाहरण प्रस्तुत किया। शुक्ल जी के कथन में अस्पष्टता नहीं आने पायी है। वे कभी भी अनावश्यक भूमिकाएँ नहीं बाँधते हैं और न वेमतलब चर्चा ही करते हैं। उनका गद्य गागर में सागर है।

शुक्ल जी की शैली पर उनके व्यक्तित्व की पूरी-पूरी छाप है। यही कारण है कि उनका प्रत्येक वाक्य पुकार कर कह देता है कि वह उनका है। शुक्ल जी के निबंध तीन प्रकार के हैं :-

(1) आलोचनात्मक :- शुक्ल जी आलोचनात्मक निबंधों की भाषा गम्भीर है। उनमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता, वाक्य छोटे-छोटे संयत और मार्मिक हैं। मंतव्य की अभिव्यक्ति इस प्रकार हुई है कि उसको समझने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती।

(2) गवेषणात्मक :- शुक्ल जी ने नवीन खोजपूर्ण निबंधों की रचना की है। आलोचनात्मक निबंधों की अपेक्षा इनकी भाषा-शैली अधिक गंभीर और दुरूह है। वाक्य बड़े-बड़े हैं और मुहावरों का नितान्त अभाव है।

(3) भावात्मक :- शुक्ल जी के मनोवैज्ञानिक निबंध भावात्मक शैली में लिखे गये हैं। यह शैली नाट्य-काव्य-सा आनन्ददायक है। इस शैली की भाषा व्यावहारिक है। भावों की आवश्यकतानुसार छोटे और बड़े दोनों ही प्रकार के वाक्यों को अपनाया गया है। बहुत से वाक्य तो सूक्ति रूप में प्रयुक्त हुए हैं, जैसे -- "बैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है।"

शुक्ल जी के निबंधों में निगमन पद्धति, अलंकार योजना, तुकदार शब्द, हास्य-व्यंग्य, मूर्तिमत्ता आदि अन्य शैलीगत विशेषताएँ भी मिलती हैं।

शुक्ल जी की कृतियाँ तीन प्रकार की हैं :-

आलोचनात्मक ग्रन्थ - सूर, तुलसी, जायसी पर की गयी आलोचनाएँ; काव्य में रहस्यवाद, काव्य में अभिव्यंजनावाद, रस-मीमांसा आदि। निबंधात्मक ग्रन्थ दो भागों में संग्रहीत 'चिन्तामणि' शुक्ल जी ने 'मित्रता, अध्ययन आदि सामान्य विषयों पर भी

निबंध लिखे।

'हिन्दी साहित्य का इतिहास' उनका अनूठा साहित्येतिहासिक ग्रन्थ हैं।

शुक्ल जी की अनूदित कृतियाँ कई हैं। 'शशांक' उनका बंगला से अनूदित उपन्यास है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अंग्रेजी से 'विश्वप्रपंच', 'आदर्श जीवन', 'मेगस्थनीज का भारत वर्षीय वर्णन', 'कल्पना का आनन्द' आदि रचनाओं का अनुवाद किया।

संपादित ग्रन्थों में 'हिन्दी शब्द सागर नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भ्रमरगीतसार तथा सूर, तुलसी, जायसी ग्रन्थावली उल्लेखनीय हैं।'

शुक्ल जी ने प्रायः साहित्यिक एवं मनोवैज्ञानिक निबंध लिखे हैं। साहित्यिक निबंधों में कविता क्या है, काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था, साधारीणकरण, व्यक्ति वैचित्र्यवाद आदि निबंध सैद्धान्तिक आलोचना के अन्तर्गत आते हैं। गवेषणा करने की प्रवृत्ति शुक्ल जी में है, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' उनकी इसी प्रवृत्ति का परिणाम है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, तुलसी का भक्तिमार्ग, मानस की धर्मभूमि आदि निबंध व्यवहारिक आलोचना के अन्तर्गत आते हैं।

मनोवैज्ञानिक निबंधों में करुणा, श्रद्धा, ग्लानि, क्रोध, लोभ, प्रीति आदि भावों तथा अन्य मनोविकारों पर लिखे गये निबंध आते हैं। शुक्लजी के मनोवैज्ञानिक निबंध सर्वथा मौलिक हैं। उनकी भाँति किसी भी अन्य लेखक ने इन विषयों पर इतनी प्रौढ़ता के साथ नहीं लिखा। शुक्ल जी इन निबंधों में गहन चिंतन और सूक्ष्म पर्यवेक्षण का समावेश है।

उनमें गम्भीर विषयों के वर्णन तथा आलोचनात्मक निबन्धों में भाषा का क्लिष्ट रूप मिलता है। उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता है। गम्भीर विषयों को व्यक्त करने के लिए जिस संयम और शक्ति की आवश्यकता होती है, वह पूर्णतः उनमें विद्यमान है। अतः भाषा क्लिष्ट और जटिल होते हुए भी स्पष्ट है।

भाषा का सरल और व्यावहारिक रूप शुक्ल जी के व्यावहारिक निबंधों में मिलता है। इसमें हिन्दी के प्रचलित शब्दों को ही अधिक ग्रहण किया गया है। यथा स्थान उर्दू और अंग्रेजी के अति प्रचलित शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। भाषा को अधिक सरल और व्यावहारिक बनाने के लिए शुक्ल जी ने तड़क-भड़क, अटकल-पच्चू आदि सामान्य बोल-चाल के शब्दों को भी अपनाया है तथा नौ दिन चले अढ़ाई कोस, जिसकी लाठी उसकी भैंस, पेट फूलना, कांटों पर चलना आदि कहावतों व मुहावरों का भी निःस्संकोच होकर किया है।

शुक्ल जी की दोनों प्रकार की भाषा-शैलियों पर पूर्ण अधिकार है। वह अत्यंत संयत, परिमार्जित, प्रौढ़ और व्याकरण की दृष्टि से पूर्ण निर्दोष है। उसमें रंचमात्र भी शिथिलता नहीं। शब्द मोतियों की भाँति वाक्यों के सूत्र में गूंथे हुए हैं। एक भी शब्द निरर्थक नहीं, प्रत्येक शब्द का अपना पूर्ण महत्व है। उनके गद्य में आत्मविश्वासजन्य दृढ़ता की दीप्ति है। उनमें तथ्यता और संक्षिप्तता का विशिष्ट गुण पाया जाता है। उनके विवेचनात्मक गद्य ने हिन्दी गद्य पर व्यापक प्रभाव डाला है। लगभग 1920 ई. में हिन्दी गद्य साहित्य का बहुमुखी विकास हुआ। भाषा अधिक शक्ति सम्पन्न हुई। अभिव्यंजना शैलियों में परिष्कार हुआ तथा विविध प्रकार के साहित्य की प्रचुर मात्रा में रचना होने लगी।

ऐसे में शुक्ल जी हिन्दी के पहले समीक्षक हैं, जिन्होंने वैविध्यपूर्ण जीवन के ताने-बाने में गुंफित काव्य के गहरे और उसके व्यापक लक्ष्यों का साक्षात्कार करने का वास्तविक प्रयत्न किया। उन्होंने भाव या रस को काव्य की आत्मा माना है। पर उनके विचार से काव्य का अन्तिम लक्ष्य आनन्द नहीं बल्कि विभिन्न भावों के परिष्कार, प्रसार और सामंजस्य द्वारा लोकमंगल की प्रतिष्ठा है। उनकी दृष्टि से महान काव्य वह है, जिससे जीवन की

क्रियाशीलता उजागर हुई हो। इसे उन्होंने काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था कहा है। शुक्ल जी की समस्त मौलिक विचारणा लोकजीवन के मूरत आदर्शों से प्रतिबद्ध है। हमारे हृदय का सीधा लगाव प्रकृति के गोचर रूपों से है, इसलिए कवि का सबसे पहला और आवश्यक काम बिंब ग्रहण का चित्रानुभव करना है। जीवन में और काव्य में किसी तरह की एकांगिता उन्हें अभीष्ट नहीं।

शुक्ल जी की स्थापनाएँ शास्त्रबद्ध उतनी नहीं है, जितनी व्यावहारिक और मौलिक। उन्होंने अपनी लोकभावना और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से काव्यशास्त्र का संस्कार किया। इस दृष्टि से वे आचार्य कोटि में आते हैं। काव्य में लोकमंगल की भावना शुक्ल जी की समीक्षा की शक्ति भी है और सीमा भी। उनकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि आलोच्य कवि की मनोगति की पहचान में अद्वितीय है।

शुक्ल जी के मनोविकार संबंधी निबंध परिणत प्रज्ञा की उपज है। इनमें भावों का मनोवैज्ञानिक रूप स्पष्ट किया गया है तथा मानव जीवन में उनकी आवश्यकता, मूल्य और महत्व का निर्धारण हुआ है। भावों के अनुरूप ही मनुष्य का आचरण ढलता है- 'इस दृष्टि से शुक्ल जी ने उनकी सामाजिक अर्थवत्ता का मनोयोगपूर्वक अनुसंधान किया। उन्होंने मनोविकारों के निषेध का उपदेश देने वालों पर जबर्दस्त आक्रमण किया और मनोवेगों के परिष्कार पर जोर दिया। ये निबंध व्यावहारिक दृष्टि से पाठकों को अपने आपको और दूसरों को सही ढंग से समझने में मदद देते हैं तथा उन्हें सामाजिक दायित्व और मर्यादा का बोध कराते हैं।'

चिन्तन प्रधान निबंधों में लेखक किसी विषय पर अपने सुसंबद्ध रीति से अपने विशेष दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है। रामचन्द्र शुक्ल का 'उत्साह' शीर्षक विचारात्मक निबंध का सुन्दर उदाहरण है। उन्होंने जिन संस्मरणों का संकेत अपने विचार प्रधान निबन्धों में किया है, वे उनके विषय संबंधी दृष्टिकोण को ही सूचित करते हैं। दर्शन के क्षेत्र में शुक्ल जी का 'विश्वप्रपंच' ग्रंथ उपलब्ध है। यह अंग्रेजी पुस्तक 'रिडल ऑफ दि यूनिवर्स' का अनुवाद है, परन्तु इसकी विस्तृत भूमिका आपका मौलिक लेखन है।

हिन्दी की पहली कहानी कौन सी है, यह आज भी चर्चा का विषय है। विभिन्न कहानियाँ पहली कहानी होने की दावेदार हैं।

रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय' शीर्षक कहानी 1903 ई. में लिखी गई थी। कुछ विद्वान इस कहानी को हिन्दी की पहली मौलिक कहानी मानते हैं। शुक्ल जी का "हिन्दी साहित्य का इतिहास" तो हिन्दी का गौरव ग्रन्थ है। इसमें साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर किया गया काल-विभाजन, साहित्यिक धाराओं का सार्थक निरूपण तथा कवियों की विशेषता बोधक समीक्षा इसकी प्रमुख विशेषताएं हैं। शुक्लजी कुछ कविताएं भी रची थी। इनकी कविताओं में प्रकृति-प्रेम और सामाजिक भावों द्वारा उनका देशानुराग व्यंजित है।

आचार्य शुक्ल बहुमुखी प्रतिभा के साहित्यकार थे। आलोचना और निबंध के क्षेत्र में उनकी प्रतिष्ठा युग प्रवर्त्तक की है। 'काव्य में रहस्यवाद' निबंध पर इन्हें हिन्दुस्तानी अकादमी से पाँच सौ रुपये का तथा 'चिन्तामणि' पर 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' प्रयाग का बारह सौ रुपये का मंगला प्रसाद पारितोषिक प्राप्त हुआ था।

सन् 1919 ई. में श्री शुक्ल काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्राध्यापक नियुक्त हुए, जहाँ बाबू श्याम सुन्दर दास के निधनोपरान्त 1937 ई. में हिन्दी विभागाध्यक्ष बन गये और 1941 ई. तक लगातार बने रहे। इस पद पर रहते हुए 02 फरवरी 1941 ई. को हृदयगति रुक जाने के कारण उनका महाप्रयाण हो गया।

सीताराम पाण्डेय
रामबाग चौड़ी, पो. -रमना,
जिला- मुजफ्फरपुर-822002 (बिहार)
मो. नं.-9386752177

प्रतिस्वर

वैचारिकी के अंक (39/1) में, पाठक मंच के अंतर्गत, श्री जीतेन्द्र नाथ जौहरी की लम्बकाय शिरोग्रीव कृति प्रकाशित हुई है (पृ. 60-94)। उसे शोध प्रबंध कहें अथवा कलादीर्घा, वह वस्तुतः ज्ञान का विपुल भंडार है। इस अनूठे कोष में वृक्ष-वनस्पति, वेश-भूषा, संगीत-नृत्य, प्रसाधन कौशल से लेकर ज्ञान-विज्ञान की शिल्प, वास्तु, स्थापत्य, चिकित्सा-शास्त्र, मूर्तिकला, अभिलेख-शास्त्र आदि विविध शाखाएं परम सौहार्द से विराजमान हैं। एक-दो अथवा तीन-चार सेंटीमीटर के लगभग अदृश्य फलक पर उत्कीर्ण शिल्प, मनुष्य की वाणी में बोलने वाले तथा संगीत की तान सुनाने वाले सोपान, विशेष अवसरों पर सूर्य द्वारा किरणों के आलोक से पूजित प्रतिमा, संयुक्त सिर होने पर भी पृथक-पृथक दीखने वाले नांदी और हाथी के मुख, डेनमार्क के एकचक्र सूर्य-रथ, पेरू के रहस्यमय द्वारों, भगवान शंकर की नौमुखी भयावह प्रतिमा, निराधार पार्श्वनाथ की मूर्ति आदि के विस्मयजनक विवरण पढ़कर पाठक मंत्रमुग्ध-सा हो जाता है। देश-विदेश में विकीर्ण इस ज्ञान-सम्पदा को सूक्ष्मदृष्टि, निष्ठा तथा धैर्य के साथ संकलित कर सुसम्बद्ध रूप से प्रस्तुत करने के श्लाघ्य कार्य के लिये जौहरी महोदय अभिनंदन के पात्र हैं। किंतु प्रबंध के कुछ प्रसंग और उल्लेख अर्धसत्य अथवा आस्था या लोकवार्ता पर आधारित प्रतीत होते हैं। सम्राट् अशोक और समुद्रगुप्त के बहुमुखी व्यक्तित्व तथा उपलब्धियों को जिस रूप में अंकित किया गया है, उसमें उनके कुछ महत्वपूर्ण आयाम मूक रह गये हैं, दुर्भाग्यवश कुछ अशुद्धियां भी विवरण में प्रविष्ट हो गयी हैं।

मौर्य सम्राट अशोक निस्सन्देह इतिहास का अनूठा शासक था। विश्व के इतिहास में उससे अधिक शक्तिशाली सम्राट और चतुर कूटनीतिज्ञ रहे होंगे, परंतु 'मनुष्य' के रूप में वह अतुल तथा अद्वितीय था। मगध साम्राज्य की आक्रामक नीति का अनुसरण करते हुए उसने विशाल साम्राज्य की स्थापना की जो हिन्दुकुश से लेकर लगभग समूचे दक्षिण भारत तक विस्तृत था। किंतु कलिंग युद्ध के नरसंहार ने उसकी जीवनधारा को नया मोड़ दिया। विजय के चरम तक पहुंच कर उसने युद्ध को सदा के लिए त्याग दिया (विजयं मा विजेतव्यं) और धर्म विजय के राजपथ पर चलने का निर्णय किया। उसे अपने मिशन की पूर्ति भगवान बुद्ध के करुणामय धर्म में दिखाई दी। तत्पश्चात समूचा शासनतंत्र 'धम्म' के रंग में रंग गया और अधिकारीगण धर्मोपदेशक बन गये।

अशोक ने प्रजा के लिए अपने राज्यादेशों को, साम्राज्य के चारों कोनों में, तथा अन्यत्र भी, स्तम्भों और चट्टानों पर उत्कीर्ण करवाया। उन तथाकथित राजाज्ञाओं का निहितार्थ इतना भव्य तथा उदात्त है कि वे राज्यादेशों की बजाए धर्मग्रंथों के मंगलकारी अंश प्रतीत होते हैं। दिल्ली के फिरोजशाह कोटला के प्रांगण में स्थित प्रस्तर स्तम्भ मूलतः हरियाणा के यमुनानगर के निकटवर्ती गांव टोपरा में स्थापित था। उसकी भव्यता तथा विशालता से आकृष्ट होकर फिरोजशाह तुगलक उसे पश्चिमी यमुना नहर के जलमार्ग से दिल्ली ले गया था। इसीलिए वह अभिलेख-शास्त्र में

देहली-टोपरा-स्तम्भ नाम से ख्यात है। फिरोज तुगलक ने अशोक का एक अन्य स्तम्भ मेरठ से उखाड़कर दिल्ली की रिज पर आरोपित किया था। 1857 के हिंसाचार में वह तोप के गोले से खंडित हो गया था। जीर्ण-शीर्ण अवस्था में स्थित वह आज भी रिज पर आंसू बहा रहा है। अशोक के दो अन्य साभिलेख स्तम्भ पाकिस्तान के मानशीरा और शाहबाजगढ़ी में स्थित हैं। अन्य स्तम्भों के विपरीत उन पर उत्कीर्ण अभिलेख खरोष्ठी लिपि में अंकित हैं।

जौहरी महोदय ने मेहरौली के लौह स्तम्भ की स्थापना का श्रेय भी मौर्य अशोक को दिया है। वस्तुतः उसका सम्राट अशोक के साथ कोई संबंध नहीं है। लौह स्तम्भ पर उत्कीर्ण संस्कृत अभिलेख में चन्द्र नामक प्रतापी सम्राट की विजयों और उसके द्वारा इस 'विष्णु ध्वज' की स्थापना का रोचक वर्णन है। स्तम्भ लेख में उल्लिखित 'चन्द्र' को प्रायः गुप्तवंश के पराक्रमी सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय से अभिन्न माना जाता है। यह स्तम्भ मूलतः विष्णुपदगिरि पर स्थापित किया गया था - प्रांशुर्विष्णुपदगिरौ भगवतो विष्णोर्ध्वजः स्थापितः। कालांतर में, संभवतः पृथ्वीराज चौहान द्वारा इसे विष्णुपदगिरि से वर्तमान स्थान पर स्थानांतरित किया गया था। विष्णुपदगिरि की पहचान आज भी विद्वानों के लिए समस्या बनी हुई है। कुछ भी हो, मेहरौली लौह स्तम्भ प्राचीन भारतीय रसायन-शास्त्र एवं धातु-विज्ञान का एक चमत्कार है।

कोई युद्ध विजेता सम्राट धर्मोपदेशक बन जाए, यह विचित्र विरोधाभास है, किंतु इसके कारण ही अशोक वह बना है, जिस रूप में वह शताब्दियों से विख्यात है- अशोक महान्। वह इतिहास का अनोखा संत शासक था जिसे प्रजा प्राणों से भी प्यारी थी और जो उसके चारित्रिक, नैतिक तथा पारलौकिक अभ्युदय के लिए सर्वात्मना समर्पित था। किंतु सम्राट के पूर्णतया धर्मोन्मुख होने तथा रणभेरी के शांत पड़ने के सम्भावित दुष्परिणामों के अंकुर भी धीरे-धीरे फूटने लगे। शासनतंत्र के शिथिल होने से साम्राज्य विघटन की ओर अग्रसर होने लगा। जिस विशाल साम्राज्य का अशोक ने घनघोर परिश्रम से निर्माण किया था, वही अशोक उसके ह्रास का कारण बना, यह भारतीय इतिहास का बहुत कड़वा सच है। जौहरीजी का यह कथन भी कि अशोक ने अपने अभिलेख संस्कृत, प्राकृत और मागधी में अंकित करवाए थे, आधा-अधूरा सच है। वास्तविकता यह है कि अशोक के सभी लेख प्राकृत में निबद्ध हैं, जिसे उसकी कुछ विशेषताओं के कारण 'अशोकी प्राकृत' कहा जाता है।

जौहरी द्वारा अंकित सम्राट समुद्रगुप्त के शब्दचित्र में भी उसके समृद्ध व्यक्तित्व के कुछ पक्ष उपेक्षित रह गये हैं। समुद्रगुप्त प्राचीन भारत का ऐसा अनोखा सम्राट था, जो वास्तविक उत्तराधिकारी न होता हुआ भी, अपनी गुण-सम्पदा के कारण सिंहासन पर आसीन हुआ था। वह चन्द्रगुप्त प्रथम का ज्येष्ठ पुत्र नहीं था, परंतु उसका पिता उसकी पराक्रम प्रखर प्रतिभा तथा विविध गुणों से इतना प्रभावित तथा आश्वस्त था कि उसने, उत्तराधिकार क्रम की चिंता किए बिना अपने जीवन की संध्या में, उसे भरी सभा में अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। (निखिलां पाह्युर्वीमिति)। समुद्रगुप्त ने पिता की अपेक्षाओं को अक्षरशः पूरा किया।

समुद्रगुप्त को उत्तराधिकार में मगध तथा निकटवर्ती प्रदेशों का अल्पाकार राज्य ही मिला था, किंतु उसका लक्ष्य नाना खण्डों में विभक्त को एकीकृत एवं सुगठित कर स्वयं को उसके एकच्छत्र सम्राट के रूप में स्थापित करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने प्रचंड अभियानों में दक्षिण तथा उत्तर भारत (आर्यावर्त) को अपने अधिकार में कर लिया। जहां आर्यावर्त के शासकों को उसने एक बारगी उखाड़ कर फेंक दिया, वहां दक्षिण भारत के शासकों को पराजित करके भी उन्हें पदच्युत नहीं किया बल्कि उनकी राज्यलक्ष्मी और अधिकारों का हरण कर उन्हें अपना सामान्त बना लिया (श्रियंजहार न तू मूदिनीम्)। इन विस्तृत अभियानों से भारत का बहुत बड़ा भूभाग उसके अधीन हो गया और चारों ओर उसके पराक्रम का डंका बजने लगा। निकटवर्ती नेपाल तथा दूरवर्ती पश्चिमोत्तर के कुषाण, ईरान के शासक और लमगान के राजा भी, कर और कन्याएं देकर, सुरक्षा की भीख मांगने लगे। शक्तिशाली मालव और यौधेय गण भी उसके आगे नतमस्तक हो गये। जौहरी महोदय का कथन कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के राजाओं से उसके मैत्री संबंध थे, अस्पष्ट तथा अनिश्चित प्रतीत होता है। प्रयाग

प्रशस्ति में इन मैत्री संबंधों का उल्लेख नहीं है।

सुखद आश्चर्य है, यह प्रचंड पराक्रमी तथा युद्धविजेता (सर्वरा जोच्छेत्ता) सम्राट दुर्लभ मानवीय गुणों का भंडार था। उसकी उदारता का कोई ओर-छोर नहीं था। कमाल की बात है कि उसने जिन राजाओं को पराजित कर उनके धन-वैभव का हरण किया था, वह समूची धन-संपदा भी उनके स्वामियों को वापिस कर दी और कुछ को उसने पुनः स्थापित कर दिया। समुद्रगुप्त कवि भी था, संगीतज्ञ भी। एक स्वर्णमुद्रा पर उसे वीणा बजाते हुए अंकित किया गया है। उसकी मुद्राओं पर मकर वाहिनी गंगा तो अंकित है, किंतु यमुना के अंकन का प्रमाण नहीं है। प्रयाग-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त को कविराज उपाधि से विभूषित किया गया है, किंतु उसकी कोई काव्यकृति अभी तक प्रकाश में नहीं आई है। उसके नाम से प्रचलित 'कृष्णचरितम्' जाली रचना है। हरिषेण की शब्दावली में समुद्रगुप्त साधारण मानव नहीं, भूतल का देवता था- अचिन्त्य पुरुष।

डॉ. सत्यव्रत वर्मा
(भूतपूर्व प्राचार्य, मानद प्रोफेसर)
7/34, पुरानी आबादी
नामदेव फ्लोर मिल के पास
श्रीगंगानगर - 335001

वैचारिकी जुलाई-अगस्त 2022 भाग 38, अंक 4 दिनांक 10 जनवरी 23 को प्राप्त, मुखपृष्ठ आजादी का अमृत महोत्सव के तिरंगे झंडे से गौरवान्वित है। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के सेनानियों-शहीदों के भावचित्रों से पुस्तिका अत्यंत गरिमामयी बन पड़ी है। अध्यक्षीय भाषण सुन्दर उत्तम प्रशंसनीय है। लोक साहित्य का सैद्धांतिक विवेचन तथा संत परम्परा में कबीर का विद्रोही स्वर छात्रोपयोगी हैं। लघुकथा- अनसुनी बुवाई, आज के लिए काफी अनुकरणीय लेख है। स्त्री और बैलेंस फार बेटर उपयोगी पठनीय है। शंकर शेष के नाटकों में स्त्री चिन्तनीय विषय है। सभी सामग्री उत्तम हेतु मेरा साधुवाद।

बी. एस. शांताबाई
कर्नाटक महिला हिन्दी सेवा समिति
178, चौथा मुख्य रास्ता, छठवां क्रास,
चामराजपेट, बेंगलूर-560018
फोन : 80-26617777

'वैचारिकी' के जनवरी-फरवरी 2023 अंक में ऋग्वेद की रचना भूमि के भूगोल है की चर्चा ऋग्वेद के आठवें मण्डल के छियेतर सूक्त की ऋचा दो इस प्रकार है- अयमिन्द्रो मरुत्सखा (मैं इन्द्र मरुतों का मित्र हूं)। यह ज्ञातव्य है कि ऋग्वेद के आठवें मण्डल की भाषा प्रथम मण्डल से मिलती है। विद्वानों का मत है कि ऋग्वेद के इन दोनों मण्डलों की रचना मरुदेश में हुई है। इस मत को मानने का आधार भी है कि रचना अपने भूगोल से किसी न किसी रूप में बंधी रहती है। ऋग्वेद की ऋचाओं से ऋग्वैदिक कालीन लोक भूगोल को समझा जा सकता है। 'मरुत' इस भूगोल का भाग है और इन्द्र भी...। 'मरुत' ऋग्वैदिक कालीन भूगोल में जाने का शब्द है। इसकी प्रकृति उस भूगोल की दिग्दर्शक जो मरुभूमि को इंगित करती है। ऋग्वेद में 'गण' शब्द 'लोक' का सूचक-गण समूह है। एक जैसे लोगों का, जिनकी भाषा वैदिक संस्कृत थी। गणराज्य और गणतंत्र ऋग्वेद के बाद की रचना है। लोक समूह जो मरु तों के क्षेत्र में रहता। मरुत वे गण नहीं हैं जो ऋग्वैदिक काल में ऋषियों से अलग रहते। मरुत प्रकृति दैव रूप हैं। अग्नि की भांति (अग्निमीळे पुरोहितम् : 1,1,1)। गण का राज्य इकाई के रूप में अर्थ बहुत बाद का है। इसमें कोई अन्य राय नहीं कि आर्यावर्त एक गणतंत्र इकाई था। लेकिन गण का आरंभिक अर्थ लोक है, कालान्तर में अन्य अर्थ जुड़े हैं।

बी.एल.माली 'अशांत'
3/343, मालवीय नगर, जयपुर,
राजस्थान-302017
ईमेलः blmaliashant94@gmail.com

स्वत्वाधिकारी भारतीय विद्या मन्दिर, कोलकाता के लिए सचिव शंकरलाल सोमानी द्वारा कल्याणी प्रिंटर्स, अलखसागर रोड, बीकानेर के लिए कंप्यूटर-एन-मीडिया, 25ए, सी.आर. एवेन्यू, कोलकाता-72 में मुद्रित एवं भारतीय विद्या मंदिर से प्रकाशित। संपादक-डॉ. बाबूलाल शर्मा।